भिखारिणी

236

If you want to see my name, please see page No 30.

रघुनाथ सिंह, एम० ए०, एल० एल० बी०

भिखारिणी

If you are curious to know my name see page 2.

रघुनाथ सिंह, एम० ए०, एल० एल० बी०

प्रकाशक

साहित्य सेवक कार्यालय
काशी

प्रथम संस्करण } १००० { मूल्य ॥)

लेखक अन्य रचनाएँ

आधुनिक राजनीति का क ख ग

फासिज्म

भिखारिणी

Towards freedom

प्रकाशित होनेवाली—

यूरोप के भाग्य-विधाता।

नात्सी।

समाजवाद की रूप-रेखा।

मैं और मेरे पत्र।

अग्नि-कण।

रेणु।

संसार के शिल्पी।

unity in Diversity.

why freedom ?

Theory and Practice of Fascism

भिखारिनी

माता के वक्षस्थल पर क्रीड़ामग्न शिशुतुल्य तरणी, सेवा उपवन के जान्हवी उपकूल मध्य लोहशृंखला पाश द्वारा वेष्टित, सलिला हिम तनूजा के थिरकते उल्लोलों पर थिरक रही थी। वह शुभ्र, उज्ज्वल, निर्मल, चंचल तरंगों के थपेड़ों से डोल रही थी। चिरसंगिनी लहरों के इस प्यार में विचित्र आकर्षण तथा स्नेहरस सना था। स्पर्श द्वारा कंपित हृदय उल्लसित हो उठता था। हृदय उमड़ पड़ता था, तरणी उछल उठती थी, प्रेमालिंगनार्थ दौड़ पड़ती थी, वज्रलौह शृंखला झनझना उठती थी; हताश हो विवशता के आँसू छलछला आते थे। जलतरंगें स्वतंत्र थीं। तरणी परतंत्र थी; नाविक के संकेतों की आश्रित थी। वे उर्मियाँ उन अश्रु-कणों को देख, व्याकुल हो उठती थीं। उनकी वह भावभंगी, वह चंचलता, वह इठलाहट गंभीरता में विलीन हो जाती थी। वे तरल तरंगें उपकूलों में टकरा जाती थीं। उपकूल सम्हल न सकता था, मूक समवेदना के उठते धूम्र में, रजत वर्ण उज्ज्वलकण सांत्वना के हेतु चल पड़ते थे।

मैं पतंजली के योगसूत्रों के पृष्ठों को तरणी के पार्श्व में अर्धतिष्ठितावस्था में उलट रहा था। बाह्य जगत् से तटस्थ हो, अपना भिन्न जगत बना लिया था। उज्जृंभित जलबिंदुओं, लहरों तथा उपकूलों की वही चिरक्रीड़ा आरंभ थी। उस पार वेदव्यास के मेले में जाती रंग-बिरंगी तरणी-पंक्तियाँ अपनी यात्रा समाप्त कर रही थीं। रंग-बिरंगे वस्त्रों द्वारा वेष्टित नर-नारी मधुर राग अलाप रही थीं। स्त्रियों द्वारा खुली तरणियों में ग्राम्य संगीत जमा था। उनके मधुर कंठ द्वारा उठते रव से वायुमंडल, गंगा का पवित्र वक्षस्थल तथा तट गूंज उठे थे। लय के उल्लोलों में विचित्र आकर्षण था। तटवर्ती तरु झूम उठे थे। मरुत प्रवाह भूल बैठा था। भास्कर-रश्मियाँ शीतल हो चली थीं। नाविक झूमकर डाँड़ा चला रहा था। तरंगें भी उछल-उछलकर थाप दे रही थीं। पतवार काटते पानी में करताल बजा रहा था। उस मधुर संगीत के मध्य जल में पड़ते डाँड़े की गंभीर ध्वनि हृदय में अद्भुत भाव उत्पन्न कर देती थी। दूर पर घनघनाते वेदव्यास के घंटे की ध्वनि यात्रियों के हृदयों-में अभूतपूर्व आनंद उत्पन्न करती थी। नाविक गंभीर श्वास परित्याग करता था। कामिनियाँ वस्त्र सम्हालती थीं। घंटे की ध्वनि सुन शिशु पूछ बैठते थे। माँ उनका मुख चूम कहती थी, बच्चा पहुँच गए।

मैं अपने जगत् में भूला था। स्थिति एवं स्थान का ज्ञान न था। अपनी ही उधेड़ बुन में लगा था। जगत क्या है, मैं कौन हूँ, ब्रह्म क्या है, यही मेरे विचार की सामग्री थी। मरुत अपने शीतल

शांतिप्रद प्रवाह द्वारा तटवर्ती हरे-भरे क्षेत्रों में विकसित पीत वर्ण सर्षप के चारु कुसुमों, मटर की लज्जित पुष्पित कोमल लताओं और यव के लहलहाते बालों को स्पर्श करता, महासागर की उठती गिरती गंभीर सुदूर लहरों का स्मरण दिलाता था। रखवाली करनेवाले वृद्ध और बालिकाओं के हाँकों तथा कभी-कभी समीप से जानेवाली तरणी के यात्रियों और डाँड़ों से उठती ध्वनि द्वारा स्थान की नीरवता भंग हो जाती थी। भगवान मरीचिमाली भी प्रतीची की ओर दौड़े चले जाते थे। मैं एकाएक चिहुँक उठा। किसी व्यक्ति का प्रतिबिंब पुस्तक तथा मुझ पर होता लहराती लहरों पर पड़कर हिलता हुआ मेरी समाधि भंग करने का प्रयास कर रहा था।

मस्तक उठाकर देखा तो दरिद्रता देवी हँस रही थी। लज्जित करुणा देवी नतमस्तक अपने में आप ही छिपने का यत्न कर रही थी। भारतवर्ष अपने वास्तविक रूप में खड़ा था। शोक एवं वेदना अपनी सीमा पार कर चुकी थी। केवल नर-कंकाल था। मुट्ठी भर हाड़ था। जीर्ण और जर्जर टूटे पिंजड़े में लाल बंद था। भयानक अंधेरे में क्षीण दीपक टिमटिमा रहा था। रूखे, घने, लम्बे, लटियाये, विशृंखल केश व्यर्थ भागने का प्रयत्न कर रहे थे। आँसू अनजाने रूक्ष रक्तहीन कपोलों पर बहकर सूख गए थे। नेत्र राजीव थे किंतु जलाभाव में अनायास ही सूख गए थे। मस्तक उन्नत था, भव्य था, गौरवपूर्ण था किंतु मलिन था। कपोलों पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं, ठोकर निकल आया था। सरस, पतले, रक्त ओष्ठों पर पपड़ी पड़ गई थी। कंठ के ऊपर नीचे रेखाएँ दौड़ गई थीं। उभड़े वक्षस्थल

पर पसलियाँ उभड़ आई थीं। मृणाल-कोमल वाहुपाश सूखी टेढ़ी लकड़ी बन चले थे। उँगलियाँ सूखकर काँटा हो चुकी थीं। पैरों पर धूल जमी थी। बेवाय फटी थी, उनमें मिट्टी भर गई थी। अँगूठे तथा उँगलियाँ चलते-चलते बिखर गई थीं। धोती क्या थी चिथड़ों का संग्रह था। सभी रंगों का उनमें समावेश हो चुका था। यथाशक्ति बिखरे, भागते सूतों को जबरदस्ती बाँध रखने का प्रयत्न किया गया था। मलिनता ने उसे अपने रंग में इतना रंग लिया था कि उसपर दूसरा रंग चढ़ना असंभव-सा हो गया था। कोख में दो वर्ष का नंगा बालक था। दाहिने हाथ की उँगली पकड़े विस्टी लगाए तीन वर्ष का तथा बाईं ओर पाँच वर्ष का बालक, किसी का दिया एँड़ी-तक लटकता फटा कुरता पहने खड़ा था। मैं अपनी पुरानी आदत के अनुसार कोपीन पहने नाव पर बैठा था। धोती और कमीज पास ही रखी थी। अपने संमुख स्त्री को देखते ही मैंने धोती अपने शरीर पर डाल ली। पुस्तक बंद करता हुआ मैंने जिज्ञासापूर्ण नेत्रों से उसकी ओर देखा!

'बाबूजी ....।'

मैं उसकी ओर आकृष्ट हो गया। वह कुछ कह न सकी। उसका मस्तक नत हो गया। मैं नीरव हो गया। मेरे नेत्र तरणी के तख्तों को गिनने लगे। मैं पुस्तक के पृष्ठ उलटने लगा। पूछा—

'हाँ, कहो। क्या है?'

'..... बच्चे भूखे हैं।'

मैं समझ गया वह कुछ चाहती है। भूखी है भिखमंगिन है। मैंने पुस्तक खोलते हुए कहा—

"तो मैं क्या करूँ?"

मैं अन्यमनस्क हो घूम पड़ा। उसका प्रतिबिंब उसी प्रकार तरंगों पर हिल रहा था। मुझे उस प्रतिच्छाया में उसका वह उदास, दीनतापूर्ण, करुण मुख स्पष्ट दिखाई देने लगा। उसके नेत्रों में मूक वेदना छिपी थी; वे कुछ कह रहे थे। मेरे हृदय की किसी अज्ञात तंत्री को झंकारित करने का यत्न कर रहे थे। मैंने रूखा उत्तर तो दे दिया किंतु वास्तव में हृदय रो रहा था। मुझे अपने पर घृणा होने लगी। मेरे श्वेत-स्वच्छ वस्त्र मेरा परिहास करने लगे। मैं उद्विग्न हो उठा। मैं भी इसी मानव-जगत का एक प्राणी हूँ और वह भी। मुझे किसी प्रकार एक मुट्ठी आँटा मिल जाता है, उसे वह भी नहीं। यदि दुःख पाप का प्रायश्चित्त है, तो व्यावहारिक दृष्टि में इस गूढ़ सिद्धांत की पुष्टि नहीं होतो। सरल, परिश्रमी, सज्जन, भोले-भाले व्यक्ति सदा अत्याचार का शिकार बनते आए हैं। जिन्हें हम धर्म-पुस्तकों में पुण्यात्मा पढ़ते आए हैं, वे विपत्तियों में ही अपने जीवन बिता गए हैं। व्यक्तिविशेष, वर्गविशेष अपने स्वार्थों के हेतु सर्वदा मनुष्य की सज्जनता और सरलता से लाभ उठाता आया है......। प्रतिच्छाया ने अपना स्थान त्यागा। चुपचाप नतमस्तक एक ओर अग्रसर हुई। मैं घूम पड़ा। वह मलीन मुख किए उदासीनतापूर्वक आगे बढ़ रही थी। अबोध बालक तृषित नेत्रों से मेरी ओर देख रहे थे। मैंने अपनी सारी शक्ति एकत्र कर कहा—

"सुनो।"

वह लौट पड़ी। आशा से उसका मुख लाल हो उठा। वह मेरे संमुख नतमस्तक हो खड़ी हो गई। मैंने कहा—

"बैठो।"

तट पर लगे तख्त पर वह बैठ गई। मैंने पूछा—

"कहाँ रहती हो ?"

वह काँप उठी। अपना परिचय देना नहीं चाहती थी। उसने धीरे से कहा—

"बाबूजी, पूछकर क्या कीजिएगा।"

"कहने में कुछ हर्ज है ?"

"नहीं। किंतु उससे आपका क्या लाभ होगा ?"

कुछ नहीं; योंही पूछा था।"

मेरी उत्सुकता बढ़ती जाती थी। मैं उसका हाल जानने को आतुर हो उठा। मैं समझ गया कि इसके अंदर कुछ गंभीर रहस्य अवश्य छिपा है। वह केवल साधारण भिखारिनी नहीं है। अपनी परिस्थिति से वाध्य होकर ही उसने यह वृत्ति ग्रहण की है। मैं इधर-उधर की बात करता उससे पुनः वही बात छेड़ बैठा। वह भी अस्वीकार न कर सकी। थोड़े ही समय में हमलोग पूर्ण परिचित मित्र-से हो गए। उसने कहा—

"मैं इसी नगर की निवासिनी हूँ। मेरे पति बड़े पुण्यात्मा और दयाशील थे। दुकानदारी होती थी। हमलोगों का व्याह १२ वर्ष की ही अवस्था में हो गया था। उन्हीं के द्वारा मुझे पाँच संतति

हुई, जिनमें यही तीन जीवित हैं। जब मेरी उमर बाईस वर्ष की हुई तो नगर में प्लेग फैला। उसी में मेरे पतिदेव भी·····।"

कहते-कहते उसका गला भर आया। अपने बच्चों के मस्तक पर हाथ फेरने लगी। कुछ समय पश्चात् उसने फिर कहा—

"मेरे देवर तथा सास ने कुछ दिन तो मुझे अच्छी तरह रखा किंतु बाद में ताने पड़ने लगे। मेरी सास मेरी सगाई करना चाहती थी। कुछ लोग तैयार भी थे। सब पक्का हो गया था किंतु बच्चों का ध्यान आते ही मैं विकल हो उठी। मेरे पति देव ने भी अंतिम समय यही कहा था कि जैसी तुम्हारी इच्छा हो करना। मैंने सगाई से इनकार कर दिया। सगाई करती तो संसार की दृष्टि में मैं सुख से रहती, कोई कष्ट न होता, किंतु इन बच्चों का क्या होता? वे इधर-उधर मारे-मारे फिरते। कोई उनसे बात तक न पूछता। मेरी सास ने घर से निकाल दिया। बच्चे भी साथ कर दिए। मैं कहाँ जाती? अनजान थी। चारों ओर अंधकार ही अंधकार था। मेरे मार्ग में बहुत से कामी मिले। सभी सुख देना चाहते थे किंतु कबतक? जबतक मेरी जवानी रहती, मैं उनकी कामतृष्णा शांत कर सकती। मेरे बच्चों पर लोग बोली बोलते; उन्हें ताना देते, उनके अंतिम श्वास तोड़ने तक ही नहीं; बाद को आनेवाली संतान तथा कुटुंब पर कलंक लग जाता। मैं घर से निकल पड़ी। भाड़े की कोठरी ली, लोगों के घर काम कर अपने बच्चों का पालन करने लगी। दोनों छोटे लड़कों को स्कूलों में बैठा दिया था। वे पढ़ते थे। मैं काम करती थी।

"दैव से यह भी न देखा गया। मेरा काम छूट गया। मैं काम ढूँढ़ने लगी। आज तीन दिन हो गया। आठ आने पैसे बचे थे उन्हीं से बच्चों को खिलाती रही। आज मेरे पास कुछ नहीं है। मैंने कभी किसी के आगे आज तक हाथ नहीं पसारा था। आज मेरे जीवन का पहला दिन है कि मैंने भीख माँगी है। जाती हूँ, काम ढूँढ़ती हूँ, यदि मिल गया तो किसी प्रकार इन बच्चों को खिला दूँगी।'

उसने दीर्घ निश्वास त्याग करते हुए छोटे बच्चे को गोद में ले मुख चूम लिया। मैंने पुनः पूछा—

"तुम्हें लोग काम देने में क्यों हिचकते हैं?"

"बाबू जी मेरे साथ जो बच्चे हैं।"

"इससे क्या।"

"दुनिया स्वार्थी है, लोग एक पैसा देकर चार पैसे का काम लेना चाहते हैं। सोचते हैं कि बच्चों के रहने से उनके काम में विघ्न पड़ेगा।"

'बच्चों को किसी अनाथालय या अपनी सास को क्यों नहीं दे देती।"

"बाबूजी, अभी मेरे दम में दम है!"

मैं आगे कुछ न पूछ सका। मेरे पास फीस के चौबीस रुपए थे। चुपचाप उसके आगे रख मैं सेवा-उपवन की ओर दौड़ पड़ा।

संन्यासी

लज्जित उषादेवी अपने घूंघट में मुस्करा रही थी। उस सलज्ज भोली मुसकान ने जलद्रुमों का चित्त चुरा लिया था। वे विकल हो उठे। कूल-कण चिरसंगिनी की इस उतावली में थम न सका। अपना सर्वस्व उसको थिर कन पर अर्पण कर दिया। मिलन में आकर्षण था, सौंदर्य था, त्याग था। हृदय खिंच उठा, अवाक् हो गया।

वीणा झंकरित हो उठी। ध्यान टूट गया। देखा, द्रुमपरिरंभित विकसित वकुल की पुष्परेणु-मध्य-तिष्ठित युवक योगी अरुणोस्तवन में तल्लीन है। प्रतिबिंबित कांचन-किरणों का कल्पित तंतुओं पर विचित्र विलास था। स्पंदित तरुपत्रों, झूलती लताओं एवं कलरव में उसी वीणा का लय प्रतीत होता था। उस ध्वनि में गंभीरता थी, नीरवता थी, हृदय को जागृत कर देनेवाली, झुमा देनेवाली हलकी वारुणी का रंग था।

योगी के अर्धप्रस्फुटित पद्म स्थिर थे। उँगलियाँ नृत्य-निरत थीं। अधरों पर मृदु मुसकान थी। दिव्य कांति से स्थान ज्योतिर्मय था। हृदयतंतु की कल्लोलों में थिरक रहा था। उस शीतल पवित्र छाया में, पुष्परेणु में, स्थित द्रुमों के कटाक्षों में, भीनी सौरभ में बैठ गया।

वीणा बजी। उन तरंगित तंतुओं में जीवन संगीत का मधुर नाद था। प्रकृति भी उस लय में झूम उठी थी। वीणा रुकी। पलकें मिल गईं। व्यक्ति वीणा थामे झुक गया। नतमस्तक उठा। वीणा बगल में रख दी। अंबुकण-पूर्ण नेत्र मेरी ओर घूमे। मेरा मस्तक स्वतः झुक गया। पलकों ने सच्चा आशीर्वाद दिया। उस दृष्टि की गंभीरता, स्थिरता एवं सरलता पर मैं मुग्ध हो गया। कुछ कह न सका। अंत में योगी ने नीरवता तोड़ी।

"वत्स ?"

मैं कुछ बोल न सका।

वे मुस्करा उठे।

"देव ! क्षमा कीजिए, मैं आपके स्तवन में विघ्न हुआ।"

"वत्स ! यह जीवन ही एक विघ्न है।"

"देव ! मैं यह सब क्या जानूँ। यदि आप आज मेरे घर जूठन डालते।"

"वत्स ! मुझे कुछ आपत्ति नहीं।" उन्होंने कुछ देर सोच-कर कहा।

"तो चलिए देव !"

हम लोग चल पड़े। घर पहुँच मैंने अपनी टूटी खपरैल की बैठक खोली। फटी-पुरानी चटाई बिछा दी। सोचा, योगी मेरी इस हीनावस्था पर दरिद्रता देवी के इस टूटे मंदिर में प्रसन्न न होंगे। किंतु उनके मुख पर प्रसन्नता थी। उन्होंने वीणा कोने में खड़ी कर दी। हाथ-मुँह धोकर बैठ गए। मुझे देखकर मुस्करा उठे। मैं भी

मुस्करा उठा। भीतर भात-दाल बनने के लिये कह दिया। आज श्रीमतीजी का पारा चढ़ा न था, इसलिए सब काम जल्दी-जल्दी होने लगा। निश्चिंत हो बैठते ही मैंने नम्रतापूर्वक पूछा—

"देव! संन्यास तो चौथेपन में न लिया जाता है?"

"हाँ।"

तब लोग युवावस्था में ही क्यों वस्त्र रँगा लेते हैं?"

"उनकी भूल है?"

"देव! क्षमा कीजिए, आपने ऐसा क्यों किया?"

"मैं संन्यासी नहीं हूँ।"

"किंतु वृत्ति तो संन्यासी है?"

"मैं किसी का चेला नहीं, वस्त्र रँगा नहीं है। फिर मैं संन्यासी कैसे?"

"तो भी आप गृहस्थ नहीं हैं।"

वे सोचने लगे। कुछ उत्तर न दिया। मैंने फिर पूछा—

'देव! यदि इसी प्रकार लोग संन्यासी होने लगें तो समाज की क्या अवस्था होगी? उसका परिचालन कैसे होगा? क्या भारत का बढ़ता विरक्त-वर्ग समाज पर भार नहीं है?'

वे और भी गंभीर हो गए। मैंने फिर नम्रतापूर्वक कहा—

"क्या आधुनिक संन्यासी-मंडल अश्रमिकों की संस्था नहीं है? क्या अधिकांश ने उत्तम पदार्थ सेवनार्थ ही वस्त्र नहीं रँगाया है?"

"वत्स! प्राचीन सुंदर पद्धति बिगड़ गई है। वास्तव में अर्वाचीन संन्यासीवर्ग अधिकतया निर्धन जनता पर बोझ है।

उसकी सरलता का लाभ उठाता है। कुछ अंशों में ये लोग तो समाज के लिये कलंक हैं।" उन्होंने गंभीरतापूर्वक धीरे-धीरे उत्तर दिया।

"देव! फिर आपने यह वृत्ति क्यों ग्रहण की?"

वे गंभीर हो गए। मस्तक पर बल पड़ गया। शून्य गगन की ओर देखते हुए उन्होंने गंभीर निःश्वास लिया। मैं कट-सा गया। अपने ऊपर ग्लानि होने लगी। मैं कितना नीच हूँ, यह अब जान सका। गुस्सा आया कि व्यर्थ एक सज्जन का रहस्य जानने की चेष्टा की। किंतु क्या करता, अब तो तीर हाथ से निकल चुका था। उन्होंने कहना आरंभ किया—

'वत्स! मैं मनुष्य हूँ। किंतु मनुष्य, मनुष्य के अर्थ में नहीं हूं। मैं वह मनुष्य हूँ जिसका धर्म स्वार्थ, कपट नीति, धोखा व्यवहार एवं अपनी स्वार्थ-सिद्धि ही एकमात्र उद्यम है। धनलिप्सा मेरा व्यवसाय एवं लक्ष्मी आराध्य देवी थी। दुर्बल एवं दरिद्र मेरी दृष्टि में हेय थे। वे मनुष्य न थे, पशु थे। उनका परिश्रम क्रयशील था। उनकी उत्पादक शक्ति का ही मूल्य था। न तो जीवन का मूल्य था न उसकी चिंता थी। मूल्य एवं चिंता थी उनके अभ्यसित अवयवों एवं कर्तृत्व बुद्धि की। वे बाजार के क्रय पदार्थ थे। हमारा समाज उनकी बेबसी का लाभ उठाता था। उनके परिश्रम के आधार पर हमारे गुलछर्रे उड़ते थे।

"उनकी असहाय अवस्था एवं दीनता पर हमें हँसी आती थी। यह हमारे लिये लाभ की बात थी। वे पेट का सौदा करते हम उसे

भरने का ठेका लेते और वे अपना शरीर, शक्ति, बुद्धि बेचते भी न सकुचाते। मैं निर्बल होना ही पाप समझता था। इस स्थान पर हिंदुओं के पुनर्जन्म के सिद्धांत का अनुसरण कर अपनी इस नीचता पर संतोष करता था। मैं सुखी था, प्रसन्न था, इसलिये वैसे ही समाज का इच्छुक था। सती-धर्म मेरे लिये स्वप्न था। अबलाओं पर आवाजें कसना मेरे समाज का गौरव था। प्रेम अफीमचियों की पिनक एवं धर्म-पंडितों का थोथा ज्ञान था। पूजा-पाठ, जप-तप, स्वांग मात्र था। मेरी यह दुनिया त्रैलोक्य से न्यारी थी।

'कुलवधुओं का सरल, सादा, भोला, छिपा प्रेम, मेरे लिये निरा गँवारपन था। मैं तो ऊपरी तड़क-भड़क पर रीझनेवाला था। वेश्याओं का, शरीर बेचनेवाली रमणियों के कृत्रिम प्रेम का याचक था। वे मेरी देवी थीं, मैं उनके प्याले भरे प्रसाद का भिखारी था। उनके बिना यह संसार सूना था। वे प्रकाश थीं जिनके उजेले में मेरी वासनाएँ दौड़ पड़ती थीं। मैं प्याले पर प्याला चढ़ाता। ताबड़-तोड़ गांजे का दम लगाता। अंधकार बढ़ने के साथ ही साथ नारकीयता का बाजार गर्म हो उठता।

"पठन-पाठन कभी का ताक पर रख चुका था। अब तो उड़ती ओढ़नी, बजते नूपुरों की ध्वनि रक्तरंजित कंपित अधर, कँटीले नयनों की पैनी मार एवं लहराते केशपाश पाठ्य विषय थे। अपना शरीर ही मेरे लिये सब कुछ था। मैं इसे खूब सँवारता था, सजाता था, रँगता था, घंटों दर्पण में देखा करता था। यह ज्ञान न था कि यह कच्ची मिट्टी है। पानी बरसेगा, मिट्टी गल जायगी, रंग बह जायगा।

"यौवनावस्था थी। मानस मदपूर्ण था। पलकें झुकी जाती थीं। आँधी आई। द्वार टूट पड़ा। टिमटिमाता क्षीण दीपक बुझ गया। अंधकार में खोजा। पुनः दीप प्रदीप्त किया किंतु वह ज्योति न थी। घर वही था किंतु वह माया न थी। वह वातावरण न था।

"मैं पशु था, अंधा था। आनंद, शांति खोजी किंतु न पाई। संसार की कुंडी खटखटाई। द्वार खुला। प्राणियों को अंधकार में भटकते देखा। उन्हें क्या ज्ञान था कि धन कमाना है। सुवर्ण लहकती अग्नि का सुंदर अंगारा है। मणि मुक्ताराशि गेडुर मारे सर्प की ढेरी है। लालसा मद है। तृष्णा पाश है। त्रिया-वासना नरक एवं पाशविक वृत्ति है। मनुष्यता के नाम पर पाशविकता का नग्न चित्र है। धोखा है। मृगतृष्णा है। अतृप्त क्षुधा है।

"एक दिन मेरा चित्त अनन्यमनस्क हो उठा था। किसी ओर मन न लगा। जोड़ी जोती गई। मैं नगर के बाहर निकल पड़ा। घोड़े टपाटप टाप फेंकने लगे। मैं अपने ही में लीन हो गया। शांति का एकतंत्र राज्य था। प्राची पीयूषमय स्वर्ण-कलश लिए अग्रसर हो रही थी। समीरण के मृदु थपेड़ों से कभी-कभी पल्लव उन्निद्र हो उठे थे। जोड़ी ने सड़क के दोनों ओर लगे घने वृक्षों के मध्य प्रवेश किया। ज्योत्स्ना जीवन के उज्ज्वल एवं मलिन धब्बों की तरह छन-छन कर राजपथ पर पड़ रही थी। जोड़ी रोक दी गई। मैं उतर पड़ा। छड़ी उठाई। खेतों का डाँड़ पकड़ा। पद जिधर उठते थे, नतमस्तक उसी ओर चल पड़ा।

"वंशी बजी। वायुमंडल, प्रकंपित हो गया। मैदान भर गया।

मैं उस ओर खिंच गया। ध्वनि में न तो संगीतज्ञों की कला थी, न लहरों में वह तोड़-मरोड़ था। ध्वनि प्राकृतिक थी, सादी थी, सरल कंठ की निकली माधुरी थी। आनंद एवं शांति का स्रोत स्वरों में प्रवाहित था। ध्वनि निकटस्थ सघन कुंजों से उन्मिषित हो रही थी। मैं अग्रसर हुआ।

"निर्मल सरोवर था। प्रकृति अपने पूर्ण यौवन में खिल उठी थी। हरित दूर्वादल, मधूक मुक्ताश्रु, माकंद मंजरी रेणु एवं कटहल की भीनी गमक में झूम रहा था। पुष्पित द्रुमालिंगित पुरातन वृक्ष अतीत की नीरव स्मृति लिए खड़े थे। उनकी लंबी शाखाएँ नीर-चुंबन में व्यस्त थीं। नरकुल-कुंज-समीपस्थ नतमस्तक सारस ज्योत्स्ना पान में समाधिस्थ था। रेऊ चहक उठते थे। कोयल कूक उठती थी। उसकी समाधि भंग हो जाती। वह प्रतिबिंबित शशिबिंब-गर्विता नलिनी के चंचल चुंबन में सरोवर को सिहिर उठते देख कुम्हलाकर मस्तक झुका लेता था।

"अशोक के अर्ध जलमग्न छोर पर, पद पर पद रखे शुभ्र वस्त्र-वेष्टिता षोडशवर्षीया युवती बैठी अपना हृदय वंशी में उडेल रही थी। उसकी मूर्ति सौम्य थी। उसकी कांति से स्थान दीप्तिमय हो रहा। उसके पीठ प्रदेश पर लोटते पिंगल केश पवन के मृदु स्पर्श में उड़ रहे थे। मैं वृक्ष की ओट में बैठ गया। वह उठी। विकसित नलिनी दल को देखा। उन्हें छींटों द्वारा तर करते हुए उठा लिया। पुनः मुस्कराती उनकी पंखड़ियों को जल पर फैला दिया। मैंने सोचा, मैं कहीं जलबिंदु होता? कहीं पखड़ियाँ होतीं।

"युवती लौटी। मैं भी लौटा। वह प्रफुल्लित थी। हँसती विकसित द्रुमों एवं पुष्पों को स्पर्श करती, घूमती, गाती, चली जा रही थी। मैं प्रसन्न था। किंतु मानस में थिरक न थी। दृष्टिगत पर्यंत उसे एकटक देखता रहा। घर कब पहुँचा, कहाँ सोया, क्या किया, कुछ याद न था।

"मुझे वह प्राकृतिक सुहावना दृश्य भूलता न था। मुझे अपने ऊपर स्वयं झुँझलाहट होने लगी। मैंने अपने जीवन में कभी किसी विषय पर इस प्रकार गंभीर होकर चिंतन न किया था। कल क्या करता था, यह दूसरे दिन भूल जाता था। मैं अपने मन से क्रोधित होकर, सरल होकर, सभी प्रकार प्रश्न करता कि यह क्या बला है किंतु उत्तर न मिलता। मैं जीर्ण रोगी की तरह झुँझला उठता। गुस्सा आता। वस्तुओं को इधर उधर फेंक देता शिथिल होकर बैठ जाता किंतु स्थिर होते ही पुनः वे दृश्य संमुख आ जाते।

"उस सरोवर पर गुस्सा आता कि उसे पटवा दूँ। वृक्षों में आग लगवा दूँ। उस स्थान का अस्तित्व ही मिटा दूँ। किंतु सायंकाल होते ही चित्त उसी सरोवर की ओर खिंच जाता। प्रतिदिन प्रतिज्ञा करता कि न तो उसे ध्यान में लाऊँगा, न उस ओर जाने का नाम लूँगा। संध्या का दूसरी ओर मोटर घुमा देता। जाता दूसरी आर किंतु मन उधर ही लगा रहता। ज्यों ज्यों समय बीतता मन उतावला हो उठता। अस्थिरता बढ़ती जाती। बाध्य होकर अपने उसी तीर्थ-स्थान सरोवर की ओर दौड़ पड़ता। युवती उसी प्रकार आती, घूमती, गाती और चली जाती। मन

परिचय हेतु उत्सुक हो उठता किंतु न तो जिह्वा डोलती न पैर ही उठते। मैं उसे देखकर ही प्रसन्न था। वासना एवं लालसा न थी। मैं दूर रहने में ही संतुष्ट था।

"प्रकृति धीरे-धीरे मानस अंबुज की शुष्क गठित पंखड़ियों को खोलने लगी। मैं उनकी भीनी सुरभि में अपने को भूल गया। सुंदर प्रस्फुटन में दृष्टि केंद्रस्थ हो गई। मैं सभ्य-समाज की दृष्टि में फीका पड़ गया। मित्र मित्र न रहे। पागल कहकर, सिड़ी कहकर लोगों ने आँखें फेर लीं। अब तो मेरे साथी मूक कण थे, कटीली झाड़ियाँ थीं। जब बोलने की इच्छा होती तो सरोवर के तट पर बैठ जाता। लहरें आतीं, बगुलों के छोटे-छोटे बच्चे आते; मरुत अपनी वीणा छेड़ता; पत्तियाँ नाच उठतीं; मैं भी उनकी इस उमंग में, उत्साह में, खेल में, मिल जाता; तन्मय हो उठता।

"जब मैं सोचता कि प्रेम के नाम पर कितने भव्य भवन खंडहर हो चुके हैं, प्यालों की खनखनाहट में कितनी सौभाग्यवती विधवाओं के आँसू पिये जा चुके हैं, कृपाणों की चमक में कितनों ने अट्टहास के बीच अपना स्वांस तोड़ा है, कितनों ने बाधित चुंबन, मधुर ध्वनि, अविकसित आलिंगन में अपनी आत्मा को धोखा दिया है, तो हृदय काँप उठता है। मैं पूछ बैठता कि क्या प्रेम का उदय संसार में केवल वस्तु-प्राप्ति, लालसा, स्पर्श किंवा ग्रहणाकांक्षा एवं आकर्षण-हेतु ही हुआ है?

"सभी वस्तुओं में मुझे उसीका प्रतिबिंब दृष्टिगोचर होता था।

२

मैंने सोचा उससे भेंट करूँ। अपनी प्रेमगाथा सुनाऊँ, किंतु मुझे क्या अधिकार था। परिचय जान लेना कठिन न था किंतु प्रयास न किया। मैं अपरिचित अवस्था में ही प्रसन्न था। वासना, इच्छा एवं लालसा देवियाँ रुष्ट हो रही थीं। उनके रुष्ट होते ही कोयल कूक उठी कि प्रेम आत्मसंमिलन है। आत्मसंभाषण है। प्राकृतिक उद्भव है। आनंद एवं शांति का उद्दीपक है। स्वर्ग है। सत्य है। जीवन है।

"उस सरोवर के प्रत्येक कण प्रकृति के रहस्योद्योतक थे, मूक थे, किंतु उनमें प्रकृति ने कुछ लिख छोड़ा था। मैंने उनको देखा और पढ़ा। उनमें प्रकृति के चारु उद्यान की नियमावली लिखी थी। बाहर से झाँककर देखा तो प्रकृति अपने हाथों से पौधों को लगा रही थी। शांति एवं आनंद उन्हें सींच रहे थे। सत्य मुरझाई डालियों में नवजीवन संचार कर रहा था। मनुष्य, मनुष्य बना उन्हें सजाता और मुस्करा उठता था।

"आज दस वर्ष प्रतीची की गोद में विश्राम ले चुके। मुझे कुछ चिंता नहीं है। जिधर पैर उठते हैं चल पड़ता हूँ। न किसी का दास हूँ, न आश्रित। सुख की अभिलाषा नहीं। अपनी उन्नति किंवा अवनति की उत्कंठा सो चुकी। जो कुछ मिला खा लिया, न मिला चल पड़ा। दिन कैसे बीते मैं जान न सका, संसार ने क्या-क्या पलटा खाया, मेरी विचार-शक्ति के परे है। हृदय-पट स्वयं खुलने लगा। जीवन रहस्य की उलझी समस्या सुलझने लगी। संसार को देखा किंतु दृष्टि दूसरी थी। मानस में गंभीर तरंगों का आरोह

एवं अवरोह था। पूर्ण प्रकाश था। हृत्तंत्री के तरंगित तंतु अपनी धुन में मग्न थे। उस मानस में प्रेम को जल-बिंदुओं में खेलते एवं पद्म को स्पर्श करते देखा। मैंने नमस्कार किया और कहा—पद्मनाथ, मैं जो खोजता था, पा गया। तुम्हें बार बार नमस्कार है। मुझे शक्ति दो कि मैं उसे चिरस्थायी कर सकूँ।"

मैं मंत्रमुग्ध-तुल्य उनकी कहानी सुन रहा था। अवाक् हो गया। कुछ कह न सका। उस अस्थि-पंजर-युक्त पींजड़े में उस आत्मा को बैठी देखा जिसके संमुख आदर्श साम्यतत्व के सिद्धांत अपनी पूर्ण गरिमा में ज्योतिर्मय थे। हम लोग उठे। गृहिणी ने भात परोस दिया। चुपचाप भोजन किया। बैठक में लौटे। मध्याह्न काल था। दुपहरिया नाच रही थी। वे कुछ समय रुके, पुनः वीणा उठाई, उत्तरीय कंधे पर रखा। मैंने चकित होकर पूछा—

"देव, इस दुपहरिया में कहाँ?"

"कौन जाने कहाँ?"

समाप्त

am doing some work, please
page 5

संध्या

'प्रतिहारी ?'

'प्रभु !'

'गौल्मिक हैं ?'

'हाँ, प्रभु !'

'बुलाओ तो।'

प्रतिहारी अभिवादन कर लौट गया। कुशासन पर उपविष्ट वृद्ध का प्रशस्त उज्ज्वल ललाट पुनः बाएँ हाथ पर झुक गया। वृद्ध की चिंतान्वित मुद्रा एकाग्र एवं शांत थी। कोने में रक्खे सुगंधित दीप की क्षीण ज्योति उस स्थान की नीरवता गंभीर करती, वस्तु स्थिति की गंभीरता प्रकट कर रही थी। अनावृत गवाक्ष द्वारा शनैः शनैः प्रवेश कर चंचल मरुत वृद्ध की ध्यान-मग्नता का लाभ उठा ज्योति के संग खेल उठता था, वृद्ध की प्रतिमूर्त्ति नाच उठती थी। उस नृत्य को देख कोठरी सिहर उठती थी, मरुत् काँप उठता था। ज्योति डर कर पुनः एकाग्र हो जाती थी। गौल्मिक ने धीरे-धीरे प्रवेश किया। समाधिस्थ वृद्ध को देख वह कोने में खड़ा हो गया। किंचित मुहूर्त पश्चात् वृद्ध के उन्मेष होते ही गौल्मिक की कृपाण उष्णीष से जा लगी। वृद्ध ने गंभीर निःश्वास लेते हुए उसी प्रकार पूछा—

'युद्धस्थल से कोई आया ?'

'हाँ, देव !'

कहते-कहते गौल्मिक का विषाद-पूर्ण मुख लटक गया, साथ ही कृपाण भी झुक गई। वृद्ध ने आश्चर्यपूर्वक उसकी मलिन मुद्रा की ओर देखा। उसके मस्तक में बल पड़ गए। गवाक्ष-द्वारा अंतरिक्ष-स्थित नक्षत्र-श्रेणी की ओर देखते हुए वृद्ध ने पुनः गौल्मिक की गंभीर उदासीन मुद्रा की ओर लक्ष्य करते हुए पूछा—

'हूँ ! पुनः ?'

'युवराज हरीराय* ब्राह्मणावाद की ओर भाग गए।'

वृद्ध की गंभीर मुद्रा कठोर हो गई। दंत-श्रेणियों पर जोर देते, और मस्तक हिलाते उन्मनस्क भाव से पुनः पूछा—

'उसके पश्चात्.........?'

'महाराजधिराज...........।'

गौल्मिक की आँखें भर आईं। सम्हल न सका। वृद्ध के चरणों पर गिर पड़ा। कृपाण झनझनाती हुई दूर जा गिरी। अपने उष्णीष के छोर में मुख छिपा लिया। हिचकी बँध गई; किंतु वृद्ध के नेत्र चमक उठे। उसकी रौद्र मुद्रा भयंकर हो गई। चिनगारियाँ निकलने लगीं। वह काँप उठा। बाहु फड़कने लगे। सहसा वह आसन त्याग, उठ खड़ा हुआ। मरुद डर कर कोने की ओर भागा। दीपक सहम-कर बुझ गया।

'सैंधव नागरिको ! देखो, वह श्वेत गज पर बैठा कौन पंचास

---

* कुछ विद्वान् इन्हें हलीदा भी कहते हैं।

हजार सैंधव-वाहिनी का परिचालन कर रहा है ? वह देखो, किसके हाथ में रक्तध्वजा आर्य-गौरव का स्मरण दिलाती स्वतंत्रता-पूर्वक फहरा रही है ? वह देखो, सिंधुतट पर देवल के विशाल भग्न-मंदिर का बदला लेते, सूर्य को कौन रक्तार्घ्य दे रहा है ? वह देखो, यवन-सेना किसके कृपाणों की अग्नि-वर्षा में देवल एवं ऊँच के युद्धस्थल में भस्म हो रही है ? वह देखो, किसके प्रचंड भैरव नाद में, वाणों की हुंकार में, म्लेच्छ बलुचिस्तान के गह्वरों में छिप रहे हैं ? वह देखो, कौन धनुष-वाण लिये आर्यावर्त के पश्चिम द्वार पर शत्रु-दल रोके, अटल खड़ा है ? वह देखो, सिंध की बालुकामय तप्त भूमि में वर्म पहने कौन दौड़ रहा है ? वह देखो, निरंतर तीन वर्षों से निद्रा देवी को नमस्कार कर अपने कर्तव्य-पथ में कौन प्रविष्ट हुआ है ? वह देखो, समस्त आर्यावर्त को मीठी निद्रा में सुलाकर कौन अग्नि के संग खेल रहा है ?

सैंधव वीरो ! बोलो, किसने मुसलमानों के जिहाद को, खलीफा वलीद* के आज्ञा-पत्र को, गर्वोन्मत्त धर्मांध जिहाद के नाम पर आक्रमणकारी बुदमीन † और हारूँ की प्रबल सेना के रक्त से सिंधु नद के पवित्र तट पर तर्पण किया था ? बोलो, सैंधव वीरो बोलो, एक बार बोलो, किसने हमारी रक्त-ध्वजा की रक्षा की है ? किसने आर्यगौरव को स्थापित रख, माता के मुख की लाली बचा ली है ?

---

* खलीफा वलीद ७५०-७१४ तक खलीफा थे !

† खलीफा वलीद के सिपहसालार जिन्होंने सिंध पर आक्रमण किया था।

किसने गो, ब्राह्मण एवं स्त्रियों का संहार होने में उच्छृंखल, नृशंस, क्रूर मुसलमानों के मार्ग में अड़ंगा लगाया है ?

'सैंधव पुत्रो, आर्यावर्त के; द्वारपालो, भारतीयो, प्रतिहारियो, आओ आज हम उसी नरश्रेष्ठ, नरपुंगव, प्रजावत्सल आर्यावर्त के महाप्रतिहारी महाराजधिराज दाहिर* को अपनी अंतिम श्रद्धांजली अर्पण करें; जिसकी विरुदावली गाते-गाते हम चारणों की गिरा न थकेगी, हृदय फूल उठेगा, आँखें एकांत में आँसू बहाते हुए कहेंगी कि तू ने भारत के प्रवेश-द्वार की उस समय रक्षा की थी, जब भारतीय अपने को भूल बैठे थे। तू ने अपने कर्तव्य का उस समय पालन किया था, जब भारतीय कर्तव्य-भ्रष्ट हो चले थे।

'भारतीयो! स्मरण रखना, आज हम कुछ थोड़े से सैंधव उस वीर की पुष्प-समाधि† के चारों ओर एकत्र होकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पण कर रहे हैं; किंतु इसका प्रायश्चित्त तुम्हें बहुत दिनों तक करना पड़ेगा। यह भी स्मरण रखना कि दाहिर ने नफथे‡ द्वारा गज के घायल होकर भागने पर भी, उसे पुनः ठंढा कर लौटाया था। यह भी न भूलना होगा कि शरीर वाणों से छिद जाने पर भी उस अश्वारोही ने अपने अंतिम श्वास तक सैन्य-परिचालन करते, भारतीय स्वाधीनता का स्वप्न देखते, एवं रक्त ध्वजा का आलिंगन करते लोथों के बीच प्राण विसर्जन किया था।'

---

* सिंध के राजा राय सस्सा (चच) का पुत्र सिंध का हिंदू राजा।

† १० रमजान हिजरी ९३।

‡ आग लगाने वाले तीर में लगी गोलियाँ जिनसे आग लग जाती है।

चारण की वाणी रुकते ही पंद्रह सहस्र सैनिकों की कृपाणें उष्णीष चूमने लगीं। सैनिकों की आँखें भर आई थीं; किंतु मुख पर लाली फूटी पड़ती थी। शरीर में कंपन था। मुठ्ठियाँ कृपाणों की मूठ पर दृढ़ता-पूर्वक जमी थीं। हृदय फूल उठा था। इसी समय महारानी लाडी अपने पति की चिता के समीप आई। कृपाणें पुनः उष्णीष से जा लगीं, साथ ही सैंधव वीरों के गगन-भेदी सिंह-नाद से वायु मंडल प्रकंपित हो उठा।

महारानी ने चिता के समीप खड़ी होकर अपनी प्रिय वाहिनी एवं प्रजागण को देखा। सब लोग नीरव हो गए। महारानी ने अपने पति की कृपाण ऊपर उठाते हुए कहा—

'वीरो, जानते हो, यह किसकी कृपाण है?'

सबके मस्तक नत हो गए।

'पुत्रो, मैं अग्नि-स्नान न करूँगी।'

सभी गंभीर हो उठे।

'आश्चर्य होता है?'

किसी को उत्तर देने का साहस न हुआ। केवल वृद्ध मंत्री मुस्करा उठे। महारानी ने पुनः गंभीरतापूर्वक कहा—

'मैं रक्त-स्नान करूँगी।'

सबने आश्चर्यित हो महारानी के रक्त-वर्ण कांतिपूर्ण मुख की ओर देखा। महारानी ने कृपाण ऊपर उठाते हुए कहा—

'सैंधव वीरो! यदि पतिदेव वीरगति को प्राप्त हो गए। पुत्र कायर हो गया, तो क्या इससे आर्यावर्त के द्वार की रक्षा न होगी?

पवित्र सिंधु के तट पर अपने कायर पुत्र की कायरता का प्रायश्चित्त मैं करूँगी। प्राण रहते यवनों को आर्यावर्त में प्रवेश न करने दूँगी। मैं प्राण रहते यह न देख सकूँगी कि यवन-सेना आर्यावर्त के किसी भाग को पदाक्रांत करना चाहती है। वीरो, यदि आप सचमुच प्रायश्चित्त करना चाहते हैं, तो उसका वास्तविक स्थान युद्ध-क्षेत्र है। चलो, आज हम लोग मुसलमानों के उष्ण लाल रक्त द्वारा अंजलि भर-भर कर हँस-हँसकर, कराहते चिंघारते, लोथों में खेलते कूदते, मुंडों का पिंडदान करें और उनके लाल रक्त के तर्पण से पवित्र सिंधु की धार लाल कर दें, तभी वीरो, मेरे पति की अंत्येष्टिक्रिया होगी।'

भेरियों के सिंघनाद एवं जयध्वनि के साथ महारानी लाडी ने अपने पति की चिता में आग लगाई। हर्षित अमर वीर दाहिर की आत्मा रणवाद्य की उल्लोलों में थिरकती व्योम-ध्वन-विजय-गीत गाती ऊपर चल पड़ी।

*   *   *   *

'मंत्रीजी।'

दंडधर ने मंत्रीजी के प्रवेश की सूचना दी—मंत्रणा-गृह के सभी सामंत उठ खड़े हुए। पदानुसार सभी ने अभिवादन किया। मंत्रीजी वेदी पर रक्खी ध्वजा के समीप बैठ गए। सब लोगों ने भी यथायोग्य स्थान ग्रहण किया। लोगों के शांत हो जाने पर मंत्रीजी ने नीरवता भंग करते हुए कहा—

'सामंतो एवं सचिवगण! आज हमें पुनः प्राचीन प्रथा का अनुसरण करते हुए राज्याधिकरण का निश्चय करना होगा। ईश्वर

और देश को साक्षी रख, आपको शपथ करना होगा, कि आप लोग निष्पक्ष रूप से विचार करेंगे एवं निःशंक होकर अपने विचार प्रकट करेंगे। इस समय हमारे संमुख बहुत ही जटिल समस्याएँ उपस्थित हैं; हमारी नीति पर ही समस्त भारतवर्ष का भाग्य निर्भर है। मैं राज्याधिकार के प्रश्न को इस शासन-परिषद् * के समक्ष उपस्थित करता हूँ, और आप लोगों से निवेदन करता हूँ, कि आप लोग अपना मत दे।'

मंत्रीजी के शांत होते ही सब लोगों ने कृपाण लेकर शपथ ली पुनः महासांधिविग्रहिक ने विषय पर विचार करते हुए कहा।

मंत्रीजी एवं सदस्यगण, आर्यावर्त की राष्ट्र एवं परराष्ट्र नीति देखते हुए हमें खेद होता है। इस समय हमें ऐसे अधिनायक की आवश्यकता है, जो महाराज दाहिर की नीति चलाते हुए धर्मांध मुसल्मानों के होते हुए, आक्रमणों को रोकने में समर्थ हो। युवराज हरीराव इस सिंहासन के सर्वथा अयोग्य हैं। कुमारी स्वरूप देवी एवं परिमल † देवी कुमारी हैं तथा वे राज-सूत्र परिचालन कर सकेंगी कि नहीं, इसमें भी संदेह है। मेरी दृष्टि में महारानीजी ही एक मात्र राज-सिंहासन के योग्य हैं। मैं नम्रतापूर्वक उनके नाम का प्रस्ताव आप लोगों के समक्ष उपस्थित करता हूँ।'

महासेनापति ने प्रस्ताव का समर्थन करते हुए कहा—

---

* इसी शासन परिषद को आगे चलकर राजपूत अठकोशल के नाम से पुकारने लगे।

† परिमल देवी को वरील देवी भी कहते हैं।

'मंत्रीजी एवं सदस्यगण ! मैं महासंधिविग्रहिकजी के प्रस्ताव का पूर्ण समर्थन करता हूँ। मैं आपका ध्यान इस ओर भी आकृष्ट करना चाहता हूँ कि इस समय मुख्य विषय युद्ध है, न कि राज-सूत्र-परिचालन। हमें एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है, जो हममें नव-जीवन संचार कर सके, युद्ध-क्षेत्र में सामान्य नागरिक के कंधे से-कंधा मिला, उन्हें प्रोत्साहन दे सके। हम सभी लोगों पर महा-रानीजी के गुण प्रकट हैं; अतएव मैं प्रस्तावित-प्रस्ताव का अनुमोदन करते हुए यह निवेदन करना चाहता हूँ कि इस विषय पर आपलोग यथाशीघ्र निर्णय दें; क्योंकि महाराज की मृत्यु से शत्रु-दल उत्सा-हित हो हम पर भीषण आक्रमण की चेष्टा कर रहा है।'

पश्चात् भटार सेनापति, महासाधनिक, भंडागाराधिकृत आदि ने प्रस्ताव के पक्ष में अपने विचार प्रकट किए। मंत्रीजी ने शासन परिषद् का रुख देखते हुए अंत में पूछा—

'किसी को विरोध है ?'

सबने एक दूसरे का मुख देखा।

'किसी को विरोध है ?'

मंत्रीजीने पुनः सबको ओर देखते हुए पूछा।

सभी नीरव थे।

'तो यही अंतिम निर्णय है ?'

'हाँ।'

सबने एक स्वर से कहा। मंत्रीजी ने पुरोहित तथा महाधर्मा-ध्यक्ष से पूछा—

'आप लोगों को कुछ आपत्ति तो नहीं है ?'

'नहीं। प्रस्ताव धर्म एवं न्याय-संगत है।

सुसज्जित तोरण द्वार के संमुख विस्तृत मैदान में बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी सैंधव प्रजागण राज्य के कोने-कोने से महारानी की घोषणा सुनने को दौड़ पड़े थे। नागरिकों के अतिरिक्त प्रांतों, जनपदों, एवं ग्रामों के गोप्ता क्षत्रप, योगिक विषयपति, आयुक्तक, ग्रामिक, शौल्लिकिक ध्रुवाधिकरण, ननवाटक, दिविर आदि सभी एकत्र थे। सभास्थल के चारों ओर दंडपाशिक खड़े थे। महारानी दोनों कुमारियों तथा अन्य सामंतों के प्रवेश करते ही तुमुल हर्ष-ध्वनि हुई। महारानी ने वेष्टनों पर हाथ रखते हुए चारों ओर अपनी एकत्र प्रिय प्रजा एवं सैनिकों को देखा। महारानी के दाहिनी ओर मंत्रीजी तथा महासंधि विग्रहिक और बाईं ओर महासेनापति गौल्मिक आदि थे। पीछे अन्य सामंतगण पदक्रमानुसार खड़े थे। गौल्मिक के संकेत पर वायुमंडल को प्रकंपित करती रण-भेरी गरज उठी सबकी दृष्टि समीपस्थ तोरण-द्वार पर खड़ी महारानी पर स्थिर हो गई। महारानी ने उस खुले नभ-मंडल में वायु के मधुर प्रवाह में, अरुणोदय की हल्की सुंदर लाली में धीरे-धीरे कहना आरंभ किया—

'प्रिय नागरिको! आज मुझे कुछ कहना है। कुछ भिक्षा माँगनी है। मैं हिंदू नारी हूँ। संभवतः यह आप न भूले होंगे। यह भी आप न भूले होंगे कि आप आर्य-संतान हैं। मैं अपना अंचल पसार कर, घुटने टेककर कुछ माँगती हूँ। मैं उस सनातन आर्य

रूढ़ि को जानती हूँ ; इसीलिए मुझे माँगने का साहस हो रहा है।'

कहते-कहते महारानी के नीलांबुज अंबुकण पूर्ण हो गए। साथ ही सहस्रों नागरिकों, सैनिकों एवं सामंतों के भरे नेत्र नत हो गए। कटि से लटकती अपने पति की तलवार की मूठ पर हाथ रखते हुए महारानी ने धीरे-धीरे कहना आरंभ किया—

'सैंधव नर-नारियो ! जिस दिन के लिए आर्य-ललनाएँ लालायित रहती हैं, हमारे सौभाग्य से वह दिन उपस्थित है। आर्य-संतानों के लिए इससे बढ़कर क्या गौरव हो सकता है कि हम युद्ध करते हुए प्राणोत्सर्ग कर सकें। कोष में धन नहीं है, अस्त्रागार अस्त्रों से खाली है ; आज केवल वे मेरे साथ आवें, जिन्हें अपनी जननी जन्म भूमि प्यारी है ; जिन्हें अपने आर्य-गौरव का अभिमान है ; जिन्हें भारत के इस पश्चिमीय द्वार की रक्षा करने में अपने कर्तव्य का ज्ञान है, एवं जिन्हें अपने आत्मोसर्ग-द्वारा समस्त भारतवर्ष को बचाना है। वीरो, हम हिंदू हैं। यह हमारा हिंदुत्व ही राष्ट्र का जीवन है। यही एक ऐसा बंधन है, जिसने हमारी विभिन्न भाषा-शैली आदि होने पर भी, हमे संबंधित कर रक्खा है। हम आज सुख-पूर्वक रह सकते हैं। हमारे वे गढ़ और गढ़ियाँ, जनपद एवं ग्राम यवनों द्वारा पद-दलित होने से बच सकते हैं ; उनके बचाने का भी मूल्य बहुत ही छोटा है, वह है—हिंदुत्व का त्याग। उस त्याग के पश्चात् जहाँ हमारे पीछे एक भी राज्य की शक्ति नहीं है, वहाँ भूमध्य सागर से लेकर सिंधुतट की शक्तियाँ अविचल रूप से खड़ी रहेंगी। यदि हम आर्यावर्त का द्वार खोल दें, इन पूर्वजों-द्वारा

I am very sorry, please see page 60.

निर्मित मंदिरों की रक्षा से मुख मोड़ लें तो हमारा देश भी धन-धान्य पूर्ण हो सकता है। हमारा घर सुवर्ण की ढेरियों से भर सकता है; किंतु उसके बदले में आर्यावर्त के समस्त मंदिरों का द्वार गो, ब्राह्मण एवं आर्य-ललनाओं का सतीत्व देना होगा। आपके संमुख दोनों प्रश्न हैं। आपकी जो इच्छा हो चुन लीजिए।

प्रिय प्रजागण! एक शब्द और भी। स्यात् यह हम लोगों का अंतिम मिलन हो। आज हमलोग पारस्परिक भेद-भाव, ईर्ष्या-द्वेष त्याग कर केवल एक बार यह सोचें कि हम उसी की संतान हैं, जिसने हमारे पूर्वजों को उत्पन्न किया था। हमारे रक्त में उसी का श्राव है, जीवन है, जिसने शताब्दियों से हमारे पूर्वजों को सींचा है एवं भविष्य में हमारी संतानों को सींचती रहेगी। हमारे लिए मरना खेल है, केवल परिवर्तन मात्र है। हम आर्यों को मरने का पाठ किसी को न पढ़ाना होगा।

हम यह नहीं जानते कि युद्ध का परिणाम क्या होगा? न उसे जानने की हमें उत्सुकता है। हम तो केवल यह जानते हैं कि हमें भारतवर्ष की रक्षा करनी है। भारतवर्ष हमारा है; उसपर दूसरे के अधिकार का अर्थ अन्याय एवं कायरता है। हिंदू-जाति की संस्कृति की आधारभूत ही स्वाधीनता है। इस स्वाधीनता के दलन का अर्थ है—हमारा पतन। नागरिक गण, हम केवल पाष्टक्व उन्नति के ही हेतु नहीं उत्पन्न हुए हैं, हमारे साथ हमारी सभ्यता, संस्कृति एवं चिरस्मरणीय सनातन है, जो इस हिंदू-जाति एवं आर्यावर्त का प्राण है। जिसे हम मर कर भी देने पर उद्यत नहीं हो सकते।

यदि हम मर कर भी उनकी रक्षा कर सके, तो यही क्या कम है ?'

भाषण समाप्त होते ही जयध्वनि से वायु-मंडल गूँज उठा। दंडधर ने शांति होने पर घोषित किया कि जिसे जो कुछ प्रश्न एवं शंका-समाधान करना हो, वे प्रश्न पूछें। एक नागरिक ने अग्रसर होते हुए कहा—

'महारानीजी ! आर्यावर्त केवल हमीं लोगों का तो है नहीं। हमीं क्यों उसके लिए प्राण दें। यदि भारतद्वार की रक्षा करना है, तो वे भारतीय क्यों नहीं सहयोग करते ? हम निरंतर तीन वर्षों से युद्ध कर रहे हैं; किंतु एक भी भारतीय राजा ने हमसे सहानुभूति न प्रकट की। यदि वे पतित एवं आलसी हो गए हैं, तो उन्हें उसका दंड भोगने दीजिए, हम क्यों उसके लिए चिंतित हों ?'

व्यक्ति की बात समाप्त होते ही वृद्ध मंत्रीजी अट्टहास कर उठे। उस अट्टहास ने बड़े-बड़े वीरों तक का हृदय हिला दिया। सैंधव नागरिकों एवं सामंतों ने वृद्ध मंत्री को इस प्रकार हँसते कभी न देखा था। महारानी उत्तर देने के लिए आगे बढ़ीं; किंतु महासंधि विग्रहिक ने उन्हें रोक कर कहा—

'नागरिको ! शंका समयोचित है। इस समय मैं अपना प्रधान कर्तव्य समझता हूँ कि भारतीय राष्ट्रनीति आपके समक्ष स्पष्ट कर दूँ; क्योंकि उसके गोपनीय रखने से अब विशेष लाभ न होगा। यह आर्यावर्त के जीवन की संध्या है। प्रातःकाल पुनः कब होगा, यह कहना कठिन है। जिस दिन आर्यावर्त पुनः एक कंठ से, एक

स्वर से, एक हृदय से जयनाद करेगा, स्यात् उस दिन हम उषा की लाली पुनः देख सकेंगे।

हमने भारतवर्ष के लगभग सभी नरेशों के पास संदेशा भेजा, उन्हें मुस्लिम नीति समझाने की चेष्टा की कि यदि हम मुसलमानों की बाढ़ रोकने में असमर्थ हुए तो समस्त भारतवर्ष मुस्लिम सैनिकों द्वारा पदाक्रांत हो उठेगा। लाल ध्वजा के स्थान पर हरी पताका फहराती मिलेगी और हम सर्वदा के लिए अपना एक शत्रु अपने घर में पाल लेंगे; किंतु खेद है कि किसी ने उसपर ध्यान न दिया। सभी अपने वंश की गौरव-गाथा गा-गा कर उलटे हमीं पर धाक जमाने का प्रयत्न करते हैं और कहते हैं कि जब हम पर बीतेगी, तब हम देख लेंगे। इन्हीं परिस्थितियों में पड़ कर स्वर्गीय महाराज दाहिर ने अपनी युद्ध-नीति निर्धारित की थी। महाराज कुशल राजनीतिज्ञ थे। वे भारत के भविष्य को प्रत्यक्ष देख रहे थे। उन्होंने चाहा था कि अकेले ही यवन-सेना की बाढ़ रोक अपने देशवासियों के पाप का प्रायश्चित्त करें; किंतु आज यवनों के साथ भूमध्य सागर से लेकर अफगानिस्तान तक की समस्त सामूहिक शक्ति खलीफा के व्यक्तित्व के रूप में खड़ी है और हमारे साथ केवल हमीं हम हैं। तो भी सिंध ने अपने कर्तव्य का पालन किया है और हमें यह आशा है कि हम अंत तक अपने कर्त्तव्य-पथ पर दृढ़ रहेंगे।'

'—और संधि ?'

'संधि किससे होगी और करेगा ही कौन ? कभी विजेता ने भी संधि की है ? संधि की शर्तें तो महारानीजी ने स्पष्ट कर दी हैं।

यदि आप लोगों को स्वीकार हो, तो आपलोग कीजिए, हम कुछ थोड़े से उन्मादियों को भूल जाइए, जो इस समय भी आर्यावर्त के गौरव, उसकी प्रतिष्ठा एवं हिंदुत्व का स्वप्न देखते और अंत तक युद्ध करते हुए मरना चाहते हैं।'

सभी लोग शांत एवं गंभीर हो गए थे। महसिलापति ने आगे बढ़कर कहा—वीरो, हमारे संमुख दो ही मार्ग हैं—युद्ध या शांति। शांति असंभव है। यवन सेना बहुत आगे तक बढ़ आई है। कल महारानीजी का प्रथम आक्रमण होगा। जिन्हें पवित्र महाश्मसान-भूमि युद्ध-क्षेत्र की यात्रा करना हो, वे कृपा कर द्रापि* धारण करें।'

देखते-देखते सभी युद्ध योग्य नागरिक आगे बढ़ आए। सैंधव नागरिक, राजा-प्रजा सभी ने मिलकर हर्षोन्मत्त हो, आर्यावर्त के पवित्र सुंदर, सुखद स्वाधीन वायुमंडल में अंतिम बार जय-घोष किया।

* * * *

'तो आप लोगों की यही अंतिम राय है।'

महारानी ने अत्यंत नम्रता एवं गंभीरतापूर्वक नत मस्तक होकर कहा। महासंधि विग्रहिक ने धीरे से कहा—दूसरा कोई मार्ग नहीं है। हमारे पास धन तो है ही नहीं, जनशक्ति भी दिन-प्रति-दिन न्यून होती चली जाती है। इसके विपरीत शत्रुदल सुसंगठित एवं प्रबल होता जाता जा रहा है। बाहर से सहायता की आशा

* युद्ध में पहनने का वस्त्र।

करना केवल मृगतृष्णा मात्र है। पराक्रम की भी कोई सीमा होती है। हम आज मुठ्ठी भर मनुष्यों को लेकर मुस्लिम सेना की बाढ़ तीन महीनों से रोके हैं; किंतु अब असंभव है। दुर्ग में केवल दो दिन के लिए भोजन एवं जल है।'

'गौल्मिक' ! क्या आपकी भी यही राय है ?'

गौल्मिक ने मस्तक झुका दिया।

'महासाधनिक ! सामान कुछ नहीं है ?

'केवल दो दिन के लिये ?'

'सेनापति।'

सेनापति ने अभिवादन किया।

'प्रांगण में सभी लोगों को एकत्र करो।'

सेनापति अभिवादन कर चले गए। वृद्ध मंत्री ने पुनः भाण्डागाराधिकृत को संबोधन कर कहा—तो चिता रचाइए !

'महामुद्राधिकृत !'

'देव !'

'मुद्रा, राजचिह्न, रक्तध्वजा आदि सब एकत्र करो ···।'

'देव, समझ गया।'

महामुद्राधिकृत ने छल-छलाई आँखों को पोंछते हुए अभिवादन कर कहा।

रणभांडागाराधिकरण की ओर वृद्ध मंत्री ने देखते हुए कहा—

'तो मित्र आप भी केसरिया द्रापि, अंतरीय आदि के रँगने का प्रबंध कीजिए न ?'

रणभाण्डागाराधिकरण ने बिना कुछ कहे मस्तक झुका दिया। धीरे-धीरे मंत्रणागृह से सभी लोग बाहर निकल गए। मंत्री ने महारानी की ओर देखते हुए कहा—

'महारानी !……'

कहते कहते वृद्ध मंत्री के सूखे, झुर्री पड़े गालों पर अश्रुधारा बह चली। महारानी ने वृद्ध मत्री के चक्षुओं में पहले पहल अश्रु निकलते देखे। महारानी की आँखें भर आईं। उन्होंने वृद्ध मंत्री के चरणों को स्पर्श करते हुए कहा—

'देव, मैं समझी।'

'पुत्री………'

मंत्री का बँधा बाँध टूट गया। वे बालकों की तरह रोने लगे। महारानी ने बलपूर्वक अपनी आँखों में भरी आँसुओं को रोक-कर कहा—

'पूज्यवर, हम भी मरना जानती हैं; किंतु एक भिक्षा है।'—मंत्री का आँसुओं से भरा मुख ऊपर उठ गया।

'मैं अग्नि-प्रवेश करके नहीं; किंतु शत्रु से लड़ते हुए मरना चाहती हूँ।'

मंत्रीजी का मुख खिल उठा। उन्होंने धीरे से कहा—

'देवल और परिमल ?'

देव, वे भी मेरी कन्या हैं। उन्हें अग्नि-प्रवेश करते कुछ हिच-किचाहट न होगी।'

'नहीं माँ !'—कहती दोनों बहनें आगे बढ़ आईं। मंत्रीजी

कातर और चकित हो उठे। उनके आँसू सूखने लगे। प्रश्न-पूर्ण दृष्टि उनकी ओर घूम गई।

'मंत्रीजी, जिस मुहम्मद-बिन-कासिम ने हमारे सुंदर देश में आग लगाई है, बिना उससे बदला लिए तो हम न मर सकेंगी।'

मंत्री ने स्थिरतापूर्वक उनकी ओर देखते हुए कहा—

'किंतु कुमारी.........'

'दूसरी बात, अपने भाई का प्रायश्चित्त देव। पीछे कोई यह तो न कह सकेगा। कि पूज्य पिता दाहिर की संतानें कायर थीं।'

'तो भी.........'

'देव आप विश्वास रखिए। हम आर्य-कन्या हैं। हमारा अंग जीते जी कोई स्पर्श नहीं कर सकता।'

मंत्री नीरव हो उठे।

'आपको संदेह होता है?'

'मैं स्वप्न में भी नहीं सोच सकता, कि हिंदू नारी अपना सतीत्व भंग कर सकती है; किंतु कुमारी तुम अग्नि-परीक्षा की अपेक्षा अधिक भयानक परीक्षा देने जा रही हो!

'देव, हम भी तो हिंदू-नारी हैं। यदि मरना जानती हैं, तो यह भी जानती हैं कि शत्रु को कैसे मारा जाता है।'

'दुर्ग के सभी जन उपस्थित हैं।'—गौल्मिक ने अभिवादन करते हुए कहा।

'अच्छा चलो।'

मंत्रणागृह के बाहर निकलते ही महारानी एवं मंत्री को उप-

स्थित सभी सामंतों ने अंतिम सामरिक अभिवादन किया। महारानी जन-समूह की ओर अग्रसर हुईं। सामन्तों ने नत मस्तक उनका अनुसरण किया। महारानी को देखते ही जन-रव शांत हो गया। जय-ध्वनि से युद्ध-जर्जर-दुर्ग की प्राचीन प्राचीर हिल उठी। महारानी ने अपनी समस्त शक्ति एकत्र करते हुए कहा—

'प्रिय बंधुओ, कल अरुणोदय के पहले ही दुर्ग का फाटक खुल जायगा और.........'

महारानी की आँखें भर आईं। वे आगे कुछ न कह सकीं। वृद्ध मंत्री ने आगे बढ़कर कहा—और हम अपनी माताओं, बहनों, पुत्रियों एवं बालकों को अग्निदेव के संरक्षण में रख, इस महायज्ञ की अंतिम आहुति के लिये चल पड़ेंगे। बंधुओ, आज यह अति प्राचीन सैंधव-राज्य भंग किया जाता है। महाराजाधिराज स्वर्गीय दाहिर के वंश की कहानी यहीं समाप्त होती है। आज न कोई राजा है, न प्रजा। न कोई ऊँच है, न नीच। आज हम केवल मनुष्य प्राणी हैं; सामान्य नागरिक हैं। आज से बढ़कर हम हिंदुओं के लिए प्रसन्नता का और कौन-सा दिन होगा। यदि दुःख है, तो इस बात का है कि हम भारत की इस भीषण आपत्ति से रक्षा करने में समर्थ न हो सके। बंधुओ, अपने जीवन की कुछ ही घड़ियाँ शेष हैं। हम एक मनुष्य तुल्य, झूठे पद, मान, मत्सर, ईर्ष्या-द्वेष आदि त्याग कर गले-से-गले मिल उस यात्रा की तैयारी करें, उस पथ का अनुसरण करें, जिसे हमारे बंधुओं ने अब तक किया है।

हर-हर-महादेव की गंभीर वज्रध्वनि से प्राचीन दुर्ग पुनः एक बार हिल उठा।

+ Makhan + Lal + Nehru +

तोरन-द्वार पर भोर की बजती सहनाई के मधुर सुंदर भैरव राग में सब झूम उठे। दूसरी ओर रण-भेरियों ने मृत्यु देवी के अभिनंदन में मंगल-गीत गाना आरंभ किया। उन मंगल-गीत की उल्लोलों में हृदय, उर्मियाँ जागृत हो उठीं। सैंधव वीरों की उन भेरियों के आराह एवं अवराह में वायु-पथ नीरव, गंभीर एवं प्रकंपित हो उठा। माता अबोध शिशु का मुख चूमती, स्नान के लिए चल पड़ी। सैंधव नर-नारी सभी विजय-गीत गुनगुनाते स्नान करने लगे। नक्षत्र तक उनके उस गंभीर गान को सुन कर अपने आँसू न रोक सके। मरुत, वृक्ष, पक्षी तक अपना कलरव भूल आर्यावर्त के अस्त होते स्वाधीनता-सूर्य के उपलक्ष्य में गाते अंतिम गीत को सुन निस्तब्ध हो उठे। दुर्ग के प्राचीन युद्ध-जर्जर प्राचीर और उनके गुंबजों के ताखों में बैठे कपोत तक किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गए। दुर्ग के निर्जीव ईंट-पत्थर तक अपनी मनोवेदना न रोक सके। प्रकृति का यह सुहावना काल था; किंतु वह भी रो उठी थी। उसने भी समझ लिया था कि उसके वे स्वाधीनता के सुंदर दिन गए। वह अनुभव कर रही थी कि केवल दो घड़ियों के पश्चात् उसमें वह माधुर्य न होगा, जिसने अगणित भारतीय दार्शनिकों एवं कवियों को उद्बोधित किया था; मरुत बहता था, किंतु उसमें वह मलय का प्रवाह न था—वह शीतलता न थी—वह जीवन न था।

वह बहता था, अंतिम बिदाई में कुछ कहना चाहता था ; किंतु उसकी आँखें छल-छला आती थीं। धीरे-धीरे उदास प्राची फूटने लगी। लज्जित मृत्यु देवी अपने अरुण परिधान में अरुण स्नान करती दुर्ग की ओर बढ़ चलीं।

भेरी की गत सुनते ही सभी नर-नारियों ने शय्या त्याग दी। दुर्ग में बचे सुंगधित जल-द्वारा स्नान कर पुरुषों ने केसरिया द्रापि एवं उष्णीष बाँधे और अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हो गए। नारियाँ भी केसरिया अंतरीय, कंचुकी तथा आभूषणों से सुसज्जित हो अपने पतियों, भाईयों को कुमकुम का टीका लगा, गाती विशाल चिता की ओर बढ़ीं। पुरुषों ने अपने बालकों का अंतिम चुंबन ले माताओं की गोद में पुनः दे दिया। दुर्ग के अवशेष मनुष्य एक दूसरे को प्रणाम-अभिवादन कर हँसते हुए चिता के संमुख एकत्र होने लगे।

उसी भांडागाराधिकृत, महासाधनिक, वाणिज्य-व्यवसाय-सचिव एवं रणभाडांगाराधिकृत ने, जिसने जीवन पर्यंत अपने नागरिकों के सुख एवं समृद्धि के हेतु चेष्टा की थी; उन्हें उत्तम वस्त्रों से सजाया था ; उनके गृह-भांडार उत्तम पदार्थों से भरे थे ; उसी दंड पाशिक ने जो अपने नागरिकों के सुख एवं दुःख में उनके जीवन का एक अंग हो गया था ; अपने हाथों से मिलकर, अपनी कन्याओं, माताओं, बहनों, स्त्रियों एवं अबोध शिशुओं के हेतु रच-रच कर चिता बनाई थी। अपनी ललनाओं के लिए अंतिम चिर-शय्या पुष्पों से सजाई थी। घी, तथा सुगंधित पदार्थों से भीगे चंदन

के काष्ठ ही कह सकते हैं कि उस समय उनकी क्या अवस्था थी। केवल वही कह सकते हैं कि उनके हृदय में कैसी भयानक आँधी वह रही थी। वे ही कह सकते हैं कि उन्होंने अपनी प्राणेश्वरियों से कहने के लिए क्या कहा था। वे ही केवल यह भी कह सकते हैं कि चिता रचते समय उनके गर्म अश्रुओं की मूक बूँदों ने क्या संदेशा आर्यावर्त को, उन अगणित हिंदुओं को दिया था, जो उस समय उषा अभिनंदन में हँस-हँस कर अपनी वीणाओं पर गा रहे थे, या जग वल्लभाओं के संग सुसज्जित सुगंधित पुष्प-शय्या पर पड़े निद्रा देवी के अंकों में झूला झूल रहे थे।

भेरी गरज उठी। कुमकुम का टीका लगाए केसरिया अंतरीय एवं कंचुकी पहने, खुले केश नारियाँ तथा पुरुष एक दूसरे को दंडवत-प्रणाम करते चिता की ओर अग्रसर हुए। राज-पुरोहित को देखते ही सब नीरव हो उठे। क्षणभर के लिए सब स्तम्भित हो गए। पुरोहित ने मंत्रोच्चारण किया नारियाँ राज-मुद्रा, रक्तध्वजा आदि समस्त राज-चिह्न एवं युद्धों में जीती समस्त पताकाओं सहित मंगल-गीत गाती चिता पर चढ़ गईं। सबकी कृपाणों उष्णीष का चुंबन करती सिंध की उन सतीसाध्वी नारियों का अभिवादन करने लगीं। केसरिया बाने में झूमते समस्त नर-नारि-वृंद आर्य-गौरव के गर्व में झूमते विजय-गीत गाने लगे। किसी के मुख पर उदासी न थी। सबका मुख रक्त वर्ण एवं कांतिपूर्ण था। स्त्रियाँ श्रेणी-बद्ध अपने पिता, भ्राता, पति, पुत्र को देखती मुस्करा रही थीं। माताओं के अंकों के बालक समीपस्थ खड़े अपने पिता को अपनी तोतली भाषा

में पुकार उठते थे; किंतु पुरुषों के नेत्र सूख गए थे। उनमें आँसू न थे। उनमें प्रलयकारी अग्नि थी।

भेरी ने अंतिम बार मृत्यु देवी का स्वागत करते अपने निनाद से दुर्ग के पाषाणों तक को द्रवित कर दिया। दुर्ग का वृहत् फाटक कराहता हुआ खुल गया। उषा की लाली में स्नान करते केसरिया वस्त्रों में झूमते सहस्रों नर-नारियों को प्रांगण में चिता पर फहराती रक्त-ध्वजा के नीचे मृत्यु-देवी ने अभिनंदन करते देखा। आर्य-वीरों ने घुटने टेककर भारतवर्ष की सती साध्वी आर्य-ललनाओं को नमस्कार किया। स्त्रियाँ दूने उत्साह के साथ विजय-गीत गाने लगीं। चिता में अग्नि लगी, वे रुक न सके। हर-हर-महादेव करते महा-रानी का अश्व खुले फाटक की ओर दौड़ पड़ा। साथ ही सहस्रों सैंधव नागरिक भूखे सिंह की तरह गरजते, चिता की ओर बिना देखे महासागर के समान हिलोरें लेती असंख्य यवन-सेना के बीच कूद पड़े।

महानद सिंधु की थिरकती लोल लहरों ने सिंधु प्रदेश में पुनः सैंधव आर्य-वीरों के हर-हर महादेव की गगन भेदी ध्वनि न सुनी। हाँ, वे चंचल, उदास लहरें अब भी रो-रो कर कहती हैं कि सिंधु प्रदेश में न वैसा अरुणोदय पुनः हुआ, न आर्य-ललनाओं का वैसा विजय-गीत पुनः सुनाई पड़ा।

समाप्त

प्रेम

दोनों ओर मक्के के खेत लहलहा रहे थे। मैं बीच के डाँड़े से आगे बढ़ रहा था। मुझे सरसराती-सी आवाज सुनाई पड़ी; जैसे—कोई पेड़ों की पत्तियों को हटाता आगे बढ़ रहा है। मैंने समझा, कोई जानवर आ रहा है। मैं सतर्क हो अपनी छड़ी सम्हाल कर खड़ा हो गया, देखा—प्रसन्न-वदना नवयुवती अपने अंचल में हरी-हरी बालें लिए एक हाथ से पत्तियों को हटाती चली आ रही है। उसके मस्तक पर से धोती खिसक गई थी। उसके रूखे; किंतु घुँघराले लंबे बाल मरुत के स्पर्श से उधर-इधर उड़ रहे थे। बालों में पत्तों से गिरते जल-विंदु मोतियों की तरह गुँथ गए थे। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् मैं पहले ही पहल गाँव पर आया था। मैंने नगर में अनेक युवतियों को देखा था। कितनी ही के संग नारकीय जीवन व्यतीत कर चुका था। अपना शील वहा चुका था; किंतु यहाँ तो दूसरी ही छटा थी।

मैं डाँड़े पर से हट न सका। भौंचक्के की तरह उसकी ओर देखता रह गया। वह भी विस्मित हो उठी। शील ने उसे धर दबाया। वह मस्तक ढँक भूमि की ओर देखने लगी। प्रयत्न करने पर भी मैं कुछ बोल न सका। कुछ क्षण पश्चात् उसने कहा—जरा जाने दीजिए ?

मेरी समाधि टूट गई। लज्जा ने मुझपर अधिकार कर लिया। किसी स्त्री के संमुख लज्जित होने का मेरा यह पहला ही अवसर था। पानी प्रातःकाल ही बरस चुका था। डाँड़ कुछ ऊँचा था। दूसरा पैर बगल में रखते ही रबर के तल्ले का जूता फिसल गया। मैं सम्हल न सका, धड़ाम से गिर पड़ा। वह खिल-खिला उठी। उसके अंचल की बालें जमीन पर गिर पड़ीं। मैं लज्जा से मर-सा गया। उसने दौड़ कर हँसते-हँसते मुझे हाथ पकड़ कर उठाते हुए कहा—राम-राम आप गिर पड़े!

'हाँ, पैर फिसल गया।'

'बरसात में पैर सम्हाल कर रखना चाहिए।'

'भूल गया।'

'यह शहर नहीं है!'—उसने व्यंग से मुस्कराते हुए कहा।

'मालूम तो ऐसा ही होता है!'—मैंने उसकी ओर देख कर मुस्कराते हुए कहा।

'चोट तो नहीं लगी?'

'कुछ विशेष नहीं।'

'कपड़े तो खराब हो गए!'

'धुल जायेंगे।'

'कहाँ जा रहे थे?'

'यहीं सीवान की ओर घूमने।'

वह घूम पड़ी। अपनी बालें उठाने लगी। बालों में मिट्टी के बब्बे लग गए थे। मैंने भी वहाँ पहुँच, अपने रूमाल से बालों को

पोंछ उसकी ओर बढ़ा दिया।

उसने कहा—यह क्या ? मैं उठा लूँगी।

'तुमने मुझे उठाया। मैं तुम्हारी बालें उठाता हूँ।'

'यह तो खूब बदला रहा !'

'जो समझो !'

* * * *

सूर्यदेव कभी के विदा हो चुके थे। आकाश मेघाच्छन्न था। निशापति कभी छिपते, कभी हँसते, नभोधूम के मध्य भागे चले जा रहे थे। मैं घूमते-घूमते मौलसरी के वृक्ष-समूह के समीप पहुँच गया। मौलसरी की भीनी सुगंध और बरसाती सरसराती वायु हृदय में विचित्र भाव उत्पन्न कर रही थी। मैंने देखा, वह वृक्ष के नीचे पैर-पर-पैर रखे, ध्यान-मग्न बैठी है। कुछ काल तक उसकी ओर मैं एकटक देखता रहा। चंद्रमा की छनती किरणें समय-समय पर उसके मुख पर पड़तीं और विलीन होती जाती थीं। मौलसरी के पुष्प टपाटप गिर रहे थे। उसके शुभ्र वस्त्र पर गिरे पुष्पों ने, देखने योग्य विचित्र दृश्य उत्पन्न कर दिया था। उसका मुख प्रशस्त लह-लहाते खेतों की ओर था। उसके नेत्र बंद थे। मस्तक वृक्ष के तने से लगा था। उसके इस रूप को देखते ही मुझे प्राचीन प्रकृति के अंकों में पली ऋषि-कन्याओं का स्मरण हो आया। उसने नेत्र खोल आश्चर्यित होते हुए, चिहुँक कर कहा—कौन ?

'मैं हूँ।'

'ओह आप !'

'हाँ।'

'बैठिए।'

मैं बैठने लगा। उसने सचेत होकर बैठते हुए मुस्करा कर कहा—देखिए, फिसलिएगा मत!

'चिंता नहीं, तुम तो हो ही।'

'लेकिन मैं आपके साथ कब तक रहूँगी।'—उसने हँस कर कहा। मैं नीरव हो उठा।

उसने अपने शरीर पर गिरे मौलसरी के पुष्पों को बीनते हुए कहा—देखिए, मौलसरी कैसी फूली है!

'देखूँ।'

मैंने पुष्प अपने रुमाल में ले लिए। उन पुष्पों की सुगंध भला क्या मैं इस जीवन में कभी भूल सकता हूँ। मैंने उसे अपनी नासिका से ही नहीं, चुपचाप अधरों से लगा, गंभीर श्वास लिया। उसने पूछा—यहाँ मन लगता है?

'पहले तो नहीं लगा, अब लगता है।'

'आप तो जानेवाले थे न?'

'हाँ।'

'फिर क्यों नहीं गए?'

'ऋतु बड़ी अच्छी है।'

'गाँव आपको अच्छा लगता है?'

'भला यह दृश्य शहर की गंदी गलियों में कहाँ मिलेगा!'

'हाँ, प्रकृति ने संसार को कितना सुंदर बनाया है; उसे देखते

ही बनता है।'

'क्या तुम नित्य यहाँ बैठती हो ?'

'कभी-कभी।'

'डर नहीं लगता ?'

'डर काहे का।'

'कोई आक्रमण करे तो ?'

'मेरे पास क्या रखा है।'—उसने सरल भाव से कहा।

'किंतु संसार तुम्हारे ही समान सरल नहीं है। उसमें बहुत कुटिलता भी है।'

'हुआ करे। मुझसे मतलब !'

'अभी तुम लड़की हो, यह सब बातें नहीं समझ सकतीं।'

'हूँ।'

'क्या मैं एक बात पूछूँ ?'

'हाँ, हाँ।'

'कभी तुम्हारे हृदय में अनुराग उत्पन्न हुआ है ?'

'अनुराग क्या ?'

'प्रेम !'

'प्रेम ?'

'हाँ।'

'ओह, क्यों नहीं। प्रेम ही तो मानव-जीवन का सार है। मैं अपने बछड़ों, गायों, बैलों, पेड़ों, खेतों सभी से प्रेम करती हूँ, मुझे देखते ही पड़िया दौड़ पड़ती है। काली गाय राँभने लगती है। बैल

ज़मीन पर खुर पटकने लगते हैं। मैं तो चारों ओर प्रेम-ही-प्रेम देखती हूँ।'

'क्या तुम सभी प्राणियों से प्रेम करती हो ?'

'क्यों नहीं ?'

'मुझसे भी ?'

'हाँ। आप भी तो मनुष्य हैं।'

'मनुष्य ?'

'हाँ। देखिये, यदि प्रेम न होता, तो माँ बालक को दूध कैसे पिलाती। गाय बछड़े के लिए जान कैसे देती ? छोटे-छोटे पक्षी चारा चुगकर अपने बच्चों को कैसे खिलाते ? मनुष्य मनुष्य के लिए प्राण कैसे देता ?'

मैंने कुछ उत्तर न दिया। उसने मेरी]ओर देखकर मुस्कराते हुए कहा --समझे ?

'किंतु.........।

'क्या ?'

'नहीं, कुछ नहीं।'

'कहिए-कहिए, आप हिचकते क्यों हैं ?'

'तुम्हारे प्रेम की मर्यादा बहुत विस्तृत है।

'उसका विस्तृत होना ही तो उत्तम है।'

'किंतु मैं उस प्रेम को संकुचित करना चाहता था।'

'क्यों ?'

'ओह ! मैं बड़ा स्वार्थी हूँ।'

* * * *

आज मेरा हृदय व्याकुल था; मैंने प्रातःकाल एक खबर सुनी थी, वही मेरे अंतस्तल में तूफान-सा उठाए हुए थी। उसका विवाह होने जा रहा था और वह प्रसन्न थी। उसे भी वह वेदना क्यों नहीं होती, जो मुझे खाये जा रही थी? आह! वह कितनी निर्दयी है।

प्रातःकाल का समय था। मैं शिवजी का पूजन करने मंदिर गया हुआ था। आज शिवजी में मेरी अपार श्रद्धा हो गई थी। पूजन करके उठा ही था, कि मैंने उसे आते देखा। उसके समीप जाकर कहा—मैंने एक भयानक समाचार सुना है!

युवती समझ गई, उसका मुख लाल हो गया। शर्म से सिर झुका लिया।

मैंने फिर कहा—इसीलिए शायद महादेवजी पर अधिक श्रद्धा बढ़ गई है।

'जी हाँ'—उसने हँसकर कहा।

मैं उसके समीप चला आया था। हम लोगों ने साथ ही मंदिर में प्रवेश किया। मैंने शिवलिंग पर पुष्प चढ़ाते हुए गंभीरता-पूर्वक पूछा—मैं बहुत दिनों से सोच रहा हूँ, कि तुमसे एक बात पूछूँ।

'पूछिए।'

'सच कहोगी?'

'भला मंदिर में भी कोई झूठ बोलता है!'

'क्या तुम्हारे हृदय में मेरे लिए कुछ स्थान है?'

'क्या मैं आपसे कुछ पूछ सकती हूँ?'

'हाँ, प्रसन्नता-पूर्वक।'

'आप मुझे किस दृष्टि देखते हैं ?'

'प्रेम की दृष्टि से।'

'मैं भी इसी दृष्टि से आपको देखती हूँ।'

मैं आश्चर्य से चकित हो उठा।

'आप चकित क्यों होते हैं।'

'ओह! धन्य भगवान्।'

'आप चाहते हैं कि मैं आपके संमुख रहूँ ?'

'निस्संदेह।'

'क्यों ?'

'ऐसी इच्छा होती है।'

'क्या इस इच्छा में वासना नहीं है। इसके अंतस्तल में गंभीर स्वार्थ नहीं छिपा है ?'

'यह कैसे ?'

'इसलिए कि यह प्रेम नहीं; मोह है।'

'मोह!'

'हाँ, जब प्रेम में वासना का पुट रहता है, तो वही अंधकार बनकर मोह का रूप धारण कर लेता है। क्या मैं एक बात पूछूँ ?'

'पूछो।'

'प्रेम का मूल्य तो त्याग है न ?'

हाँ।'

'फिर वासना और त्याग कैसे एक स्थान पर रहेंगे ?'

मैं कुछ उत्तर न दे सका।

'मैं हिंदू नारो हूँ। मेरे पतिदेव ही मेरे परमेश्वर हैं। उन्हीं के चरणों पर मेरा सर्वस्व न्योछावर है, फिर आपका चित्वन करना, तो पतित होना होगा।'

'अभी ता ब्याह नहीं हुआ ?'

'इससे क्या, वह कल हो सकता है। फिर ब्याह और प्रेम में अंतर है।'

'क्यों ?'

'ब्याह तो कर्त्तव्य है। प्रेम तो ईश्वर है। मनुष्य विवाहित रहकर भी उस स्वर्गीय प्रेम-पथ में स्वच्छंद विचर सकता है।'

'वह कैसे ?'

'क्या भाई-बहन में प्रेम नहीं होता ? क्या मनुष्य देश के लिए, जाति के लिए उत्सर्ग नहीं होते – क्या वह प्रेम नहीं है ?'

'है तो।'

'फिर जब वही प्रेम है, तो संयोग की भावना कैसी ? आप प्रेम के यथार्थ अर्थ ही को भूल रहे हैं। आप मोह को प्रेम समझ बैठे हैं। यही कारण है कि आपने ऐसा प्रश्न किया। हम लोगों का प्रेम है, उसे फूलने दीजिए। यही प्रेम हमें शांति और मुक्ति की ओर धीरे-धीरे चलाता रहेगा।'

कहते-कहते उसने डलिया उठा ली और मंदिर के घंटे को बजाती बाहर निकल गई। मैं उस घंटे की प्रतिध्वनित गूँज में किंकर्तव्य-विमूढ़ बैठा रहा।

पाँच रुपया

दैवयोग से मुझे रुपए की कमी न थी और न उसकी विशेष चिंता। जो कुछ रूखा-सूखा मिलता खा-पीकर पड़ रहता। न आगे नाथ था न पीछे पगहा। इसलिए किसीको देना था न लेना। अपने मन का आप राजा था। जो तरंग में आता कर बैठता था। मन में आया तो हलुवा-पूरी उड़ी, नहीं तो चारपाई पर करवटें बदलते कई दिन करके मस्ती में कट जाते। न तो मैं ही किसी के आगे जिम्मेदार था न कोई मेरे आगे, फिर मेरी फिक्र कौन करता? दुनिया की अजीब हालत देखकर अपने को ईश्वर के ऊपर अलहदियों की तरह छोड़ दिया था यद्यपि उसमें मुझे अब तक पूरा विश्वास है कि नहीं इसे इस दमतक निश्चय नहीं कर सका हूँ।

मुझे किसी वस्तु से प्रेम है कि नहीं यह भी मेरे जीवन की विचित्र उलझी हुई एक समस्या है। किन स्वादिष्ट पदार्थों में मेरी रुचि है किनमें नहीं, इसे प्रायः सभी प्रकार के पदार्थों को अपने इस भयानक गढ़े में ठूँस ठूँसकर भर लेने पर भी नहीं समझ पाया। हाँ, इस मोटी बुद्धि में यह बात काले धुएँ की तरह अवश्य जम गई है कि जब पेट खाली होकर पीछे पीठ की शरण में चिपक

जाता है, आतें टूटने लगती हैं; दिन में भी अँधेरा छा जाता है; झाईं भी अपनी परछाईं में छिपा लेना चाहती है तो कुछ उदरस्थ करने का जी करता है। उस समय जो कुछ मिलता है उसी में मेरी एकमात्र रुचि प्रकट हो सड़ासड़ निवाले उठ उठकर मेल इंजन के दौड़ते बैलट में कोयलों की तरह पड़ने लगते हैं।

इसी प्रकार पेट ठसाठस भरा रहने पर भी जब भीतर का पानी स्टीम बन उड़ जाता है तो तालू चटकने लगते हैं, मुँह सूखकर रेगिस्तान बन जाता है; कदम आगे नहीं उठते। दुनिया घूमती गोल दिखाई पड़ने लगता है। पानी की एक बूँद देखते ही मन बेतहाशा उस ओर दौड़ जाता है। उस समय पानी पीने को जैसा मिल जाता है, उसी में सब रसों का अनुभव करता हूँ। गंभीरता-पूर्वक अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से खाली होते पात्र को घूरता, सारे संसार को अपने से अलग समझ गटागट करता पानी गले के नीचे उतार जाता हूँ।

हाँ तो, मुझे न रुपए की जरूरत थी, न खबर थी, न चिंता। इधर आया उधर गया। कानोकान किसी को खबर न होती थी। एतदर्थ मेरे यज्ञोपवीत देव तालियों की संरक्षता से वंचित ही रह गए थे। सूपाकार कर्ण महाराज की भी यही अवस्था थी। दाहिने से सुना और बाँये से निकाल दिया। क्योंकि पहले तो पेट छोटा होने की वजह से उसके फटने का भय था, दूसरे जो कुछ जगह खाली थी उसमें आजकल के फैले झमेलिया सिद्धांतों ने कुछ ऐसा गोलमाल कर रखा था कि गुड़-गुड़ाहट के मारे तबीयत परेशान

थी। आँखों का कुछ दूसरा ही नजारा था। रोज सवेरे, शाम, दोपहर उन्हीं मनहूस दो पैर के जानवरों की शक्ल देखते-देखते दिमाग की बही के पन्ने खतम हो चुके थे। एक भी नाम चढ़ने की गुंजाइश न थी। फिर देखता किस फूटी आँख से ? न मालूम नाक रानी को मनुष्यों की गंध से क्यों चिढ़ थी। परमेश्वर ने मनुष्यों में क्यों न गंध उत्पन्न किया और ऐसी गलती उसने भूलकर ही क्यों की यह न तो मेरी नाक की समझ में आया न दिमाग हजरत ने ही कुछ गवाही दी। किस्सा कोताह, मुझे इन मनुष्य कहानेवालों से ही सख्त नफरत थी।

धूलों से भरी अपनी चरण-जोड़ी को रोका ही था कि मेरी नाक चढ़ गई। एक भूत खड़ा था। आँख मटकाते भौं सिकोड़ते इस बला से दूर होने की फिक्र में मैं पड़ गया। अफसोस यह था कि वह देख चुका था और मैं भी खीस निपोर चुका था। सबसे बड़ी कठिनता तो यह थी कि वह जेल का साथी था। दुनियाँ की यदि दुनियाँ के मीठे जायके चखने में तो भूल जाती है किंतु जेल की मनहूस याद भूलती ही नहीं। किसी तरह देशभक्ति का नाता तो निबाहना ही था। नहीं तो लीडरी में धब्बा लगने का पूरा भय था। दूसरे वह इस शहर का रहनेवाला भी न था। अपने शहर की प्रतिष्ठा को नहीं, बल्कि अपनी इज्जत के खयाल से दो बातें करना लाजिमी था। मैंने मुँह बनाकर जरा सी हँसी के पुट में आत्मीयता प्रकट करते हुए पूछा—

"कैसे चले ?"

"तीन घंटे से बैठा हूँ। बड़े संकट में हूँ भाई।"

संकट का नाम सुनते ही मेरे देवता कूच कर गए। अपनी चरण-जोड़ी को कोसने लगा कि न मालूम इसे क्या आफत पड़ी थी कि इतनी जल्दी पहुँच गई। थोड़ी देर और हो जाती तो बला टलती। खैर प्रकाश्य रूप से समवेदना प्रकट करते हुए पूछा—

"भाई कुशल तो है?"

"ऐसा काम आ पड़ा था कि आना आवश्यक हो गया।"

मन-ही-मन झुँझलाकर उठा कि चलो फिर कहीं बेगार करनी पड़ेगी किंतु बाहरी रूप ऐसा बनाया कि मालूम पड़ता था कि मेरे ही ऊपर आफत आई हो। दुःखित होते हुए मैंने कहा—

"मैं हर तरह से तैयार हूँ कहो भी तो?"

"मुझे इसी समय पाँच रुपए की सख्त जरूरत है।"

मेरी तो सिट्टी पिट्टी भूल गई। पाँच रुपए की कौन कहे, जेब में पाँच पैसे भी न थे। अपने गले के कमीज की बटन खोलते हुए मैंने कुछ ठहरकर कहा—

"क्यों भाई?"

"आज फीस देने का अंतिम दिन है। एडमिशन परीक्षा है, नहीं तो साल खराब हो जायगा।"

"क्या अभी चाहिए?"

"हाँ भाई। यहाँ हमारा कोई जान-पहचानी भी तो नहीं है।"

मेरा जी घबड़ाने लगा था। अपने चारों ओर हताश दृष्टि से देखा। अपने ऊपर गुस्सा आने लगा। सोचा नाहक परमेश्वर ने

मुझे पैदा किया। मैं न तो किसी काम का हूँ न मसरफ का। जिसके पास पैसा नहीं वह भी क्या आदमी है ? क्या उसकी भी दुनियाँ में कदर है ? मैं इसी तरह अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी पका रहा था, उधर मेरे मित्र घबड़ा रहे थे। उन्होंने उत्सुकतापूर्वक कहा "तो भाई दे दो, देर होती है।"

मैं जैसे जाग उठा। लजाकर कुछ अन्य-मनस्क-सा होकर उत्तर दिया—"भाई मेरे पास तो नहीं है।"

"तो कुछ बंदोबस्त करो।"

"मैं क्या करूँ ?"

"किसीसे उधार ले लो न ?"

"मैंने तो आजतक कभी हाथ ही नहीं फैलाया। कैसे माँगूँ ?"

मेरे मित्र बेचारे उदास हो गए। दुःख की एक गहरी आह ली। मेरा हृदय कचोट उठा। किंतु क्या करता, कुछ सूझ न पड़ता था। मैं जैसे थककर बगल की बंद दूकान के तख्ते पर बैठ गया। दोनों ओर पूरी नीरवता थी। दोनों के हृदय में आँधी बह रही थी। मैंने अपनी हीनावस्था पर विचार किया, पुनः मित्र के उदास मुँह की ओर देखा। सोचा कि यदि सोलहवीं शताब्दी होती तो बाजार में खड़ा हो अपने को बेचकर मित्र का दुःख दूर करता। किंतु यह बीसवीं शताब्दी है। सभ्यता का युग है। आदमी भूखों मर सकता है। नंगे ठिठुरकर जान दे सकता है। लोग उसे छटपटाते मरते देख सकते हैं किंतु उसके शरीर पर उसका ही इतना अधिकार नहीं कि वह उसे अपने ही काम में ला सके। मेरे मित्र

निराश हो गए थे। धीरे से आप-ही-आप कह उठे—

"चलिए सालभर और खराब हुआ।"

मैं निरुत्तर था। अपने ऊपर आप ही चिढ़ रहा था। अपनी विवशता पर गुस्सा बढ़ता जाता था। मन झल्ला उठा था। इस पाँच चाँदी के सफेद गोल सिक्के के प्रश्न ने मुझे उसकी निर्दयता कहिए या महत्व बता दिया। मुर्दा निर्जीव धातु ने हम लोगों की बुद्धि एवं जीवन की निस्सारता कहिए या स्थिति भलीभाँति प्रकट कर दी। मैं हतबुद्धि हो बैठा रहा। अंत में मित्र ने अपना उदासीन वेदनापूर्ण मुख उठाते हुए सूखी मुस्कुराहट के बीच कहा—"अच्छा चलता हूँ।"

मैं कुछ बोल न सका। किसी तरह हाथ अपने आप उठ गया। मित्र घूम पड़े। मैं रो उठा। मेरा हृदय उमड़ पड़ा। मैं उनकी ओर एक टक देखने लगा। धूल से भरे पानी की बूँद के छींटे से रँगा उनका पैर धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था। खद्दर का फटा कुर्ता और रूखी शिखा हवा के झोंके में हिल उठती थी। दरिद्रता पीछे-पीछे चली जा रही थी। सराफे की गली में श्रीपतियों के धक्के खाते-खाते वे भीड़ में लुप्त हो गए। मैं कह नहीं सकता कि गली के दोनों ओर खनखनाते रुपयों के ढेरों की या सोने-चाँदी की कटती सिलों की मीठी ध्वनि वे सुन सके या नहीं।

—

[redacted]

वेश्या

दिनकर के विरह में दिन शोकपट पहन रहा था। क्षीण रश्मियाँ क्षितिज का अंतिम चुंबन करती बिदा माँग रही थीं। नभगामी पक्षियों के हृदय से उठते कल्लोलों में मानव-हृदय थिरकता अपने हृत्तंत्री के तंतुओं को झंकरित कर चुका था। चारों ओर निस्तब्धता थी, नीरवता थी। केवल प्रकृति का चिरसंगीत अपने परिचित रव में गुप्त वृत्तियों को उन्मेषित करता अनजाने लोक में पहुँचा देता था। मैं जान्हवी की तरंगों द्वारा चुंबित तख्ते-पर बैठा लोल लहरों द्वारा थाप देती प्रकृति के संगीत का आनंद ले रहा था। मैं प्रकृति के इस सुहावने झूले में झूल रहा था। मरुत मेरे इस प्रकृत जन्य आनंद को न देख सका। तबले की बाण-तुल्य ठनक अनिद्रित थिरकते मानस में जा लगी। उर्मियों में क्रांति उत्पन्न हो गई। मैं अस्थिर हो उठा। दृष्टि घूम पड़ी। देखा जान्हवी के वक्षस्थल पर विचित्र लीला है।

बजड़े पर भूमर मची थी। सारंगी रित रही थी। मजीरे खनक रहे थे। तबले की थाप पर, तान पर, श्रोताओं के मस्तक दरगाह की की ओर जाते सींक के ताजिए की तरह हिल उठते थे। चारों ओर सभ्य मनुष्य बैठे थे और वीच में बैठी थी अकेली नारी। वह अपनी मधुर माधुरी उड़ेल रही थी और वे तृषित चातक बैठे पीते न अघाते थे।

नारी सुंदरी थी, युवती थी। किंतु आर्यललना न थी। सार्वजनिक संपत्ति थी, क्रय पदार्थ थी, स्वर्ण की दास थी। धन की अनुगत थी—वेश्या थी। रूपराशि उसका विज्ञापन था। ध्वनि आकर्षण थी।

वह नारी थी, वेश्या थी और हम पुरुष थे। ज्यों ज्यों बजड़ा समीप आता गया, हम पुरुषों की वासना, लालसा, कामना, तृष्णा-मय दृष्टि हिंस्र पशु की तरह उसकी ओर घूम पड़ी। वह हमारे आमोद की सामग्री थी। हम खिलाड़ी थे, वह गेंद थी। हम अपनी सामर्थ्यभर, शक्तिभर खेलते थे। समाज देखता था। हँसता था। बोली बोलता था। क्षण मात्र के लिये भी हम यह न सोचते थे कि यह भी अबला नारी है। सोचते क्यों? हमने इस कच्ची मिट्टी की वासना को उठती प्रचंड ज्वाला में तपा दिया था। वह कठिन लाल सुंदर ईंट हो गई थी। हम अपने इस मानवीय सुख का निर्माण इसी सुंदर ईंट के आधार पर करने का प्रयत्न करते थे।

चारों ओर पुरुषों का झुंड था। वह सबकी लक्ष्य थी। उसकी उमंगमय मधुर ध्वनि ने सबको अपनी ओर आकर्षित कर लिया

था। मेरी भी उत्सुक दृष्टि उस ओर जा लगी। कला की दृष्टि से संगीत उत्तम था। भाव कटाक्ष की भी कमी न थी किंतु कटाक्ष की उस दृष्टि में सरलता एवं सौजन्य चंचलता न थी। चंचलता थी किंतु उस चंचलता में प्रशांत सागर की हुंकरित तरंग-मालाओं सदृश गंभीरता थी। उस गंभीरता को देख मैं काँप उठा।

वाणी सुरीली थी, आकर्षक थी। अस्थिर हृदय को, कामी हृदय को शांत कर सकती थी किंतु उस वाणी में मूक वेदना थी। जलते हृदय का उठता हुआ वाष्प था। कभी-कभी उन सब लह-रियों में प्रतिहिंसा के उछलते जलबिंदु झलक पड़ते थे। अपने चारो ओर देखा तो, अपनी पुरुष जाति पर ग्लानि उत्पन्न होने लगी। लोग अपने शील की मर्यादा लांघ चुके थे। स्त्री की एक मात्र संपत्ति लज्जा हमारे हृदय के उठते उष्ण उल्लासों में गलकर अटलां-टिक महासागर की प्रचंड लहरों का रूप धारण कर चुकी थी।

बजड़ा किनारे आ लगा। रुपए खनक उठे। पान का डब्बा खुल गया। पगुरी आरंभ हो गई। लम्बी सलामी दागते मुस्कु-राते लोग विदा हुए। समाजियों ने सामान बाँध लिया। वह रुपए गिनती कर थिरकती तरंग-मालाओं के बीच कुछ देखती हुई स्थिर एवं शांत हो गई। नतमस्तक होते ही उसकी मुद्रा अत्यंत गंभीर हो गई। मैं सोचने लगा कि यदि कहीं उसके हृदय में पैठ उसकी भाव-लहरियों की गति देख सकता!

वह मन मारे बजड़े की सीढ़ियों से नीचे उतरने लगी। मैं नत-मस्तक ही तरंगों का खेल देखने लगा। उसकी अन्वेषक दृष्टि

Page 100, please see that.

घूमती हुई मेरे मुख की ओर स्थिर हो गई। वह ठिठक गई। कुछ समय पश्चात् उसने धीरे से पुकारा—

"शिव।"

अपना नाम सुन मैं चौंक पड़ा। इधर-उधर देखने लगा। मुझे स्वप्न में भी विश्वास न था कि मुझ-सा गरीब व्यक्ति भी कभी इतनी बड़ी वेश्या द्वारा इस प्रकार पुकारा जायगा जहाँ सैकड़ों लक्ष्मी-पति चक्कर काटा करते थे। उसने फिर संबोधित किया—"शिव।"

मैं उठ खड़ा हुआ। मैंने उसके मुँह की ओर अन्वेषक दृष्टि से देखा। चेहरा मालूम होता था कि परिचित है किंतु कहाँ देखा है, स्मरण न होता था। उसकी वाणी अपनी ओर आत्मीय की तरह आकर्षित कर रही थी। मैं उसकी ओर अचंभित हो देखता रहा। उसने मुस्कुराते हुए फिर कहा—

"क्यों शिव भूल गए ?"

"अरे ! रमा ?"

वह मुस्करा पड़ी।

"यह क्या ?"

"क्या मैं अच्छी नहीं लगती हूँ ?" उसने मुस्कराते हुए अपने आभूषणों एवं वस्त्रों की ओर देखकर कहा—

"हाँ, खूब अच्छी।"

मेरा हृदय बैठने लगा। मुझे कुछ सूझ न पड़ता था। किसीने जैसे मेरे हृदय को दबा दिया था। मैं भीतर ही भीतर कराह उठा। मेरे अवयव शिथिल हो चले थे। वह बजड़े पर फिर चढ़ गई।

उसने बुलाया। मैं मंत्र मुग्ध की तरह चढ़ गया। समाजी विदा किए गए। बजड़ा फिर खुल गया। हम लोग मनुष्यों से दूर होने की चेष्टा में उस पार की ओर चल पड़े।

हमारा बजड़ा गंगा के प्रशस्त रेतीले मैदान के समीप छोड़ दिया गया। लोल लहरें अपनी थपकियों से स्वयं धीरे-धीरे उसे आगे बढ़ा रही थीं। एक ओर उजाड़ मरुभूमि थी तो दूसरी ओर दीपमालिका मय काशी नगरी हम लोगों को देख हँस रही थी। इस मरुभूमि में ही हमें अधिक सांत्वना और शांति मिली। यद्यपि रेती की रेत मिली उष्ण वायु थी किंतु वह उस वायु से उत्तम थी जिसके वायुमंडल में कृत्रिमता एवं वासना की कड़ी गंध पतन की ओर खींचती थी। इस प्रशस्त मरुस्थल में हमें प्रकृति मिली, ईश्वर का लगाया सजाया सुंदर हरा-भरा उद्यान भी मिला। हिमांशु उठ रहे थे। उनकी किरणें जलद्रुमों पर खेलने लगीं। वरुण-देव शशि मिलने के हर्ष से लाल हो उठे हैं। सिकता भी हँस उठी। हम लोग अब तक नीरव थे। न मालूम कितनी भाव-तरंगें उठीं एवं विलीन हो गईं। मैंने नीरवता तोड़ते हुए कहा—

"रमा ?"

"अब रमा नहीं।"

"क्यों ?"

"मैं आयशा बाई हूँ।" उसने मुस्कराते हुए कहा।

"ऐं ?"

"क्यों आश्चर्य होता है ?" उसने मुस्कराकर पूछा।

मैं कुछ उत्तर न दे सका। मेरी जिह्वा जैसे रक्तहीन हो गई। मुँह सूख गया। सामने का प्रशस्त बालुकामय मैदान, उठता चंद्र-बिंब, लोल लहरें, सब जैसे अंधकार में मिल गए थे। मैं उसकी ओर आँख फाड़ फाड़कर देखता था किंतु देखकर भी कुछ न देख सका। पसीने से मेरा कुरता भींग गया। मन में आया माता जान्हवी की गोद में सर्वदा के लिए सो जाऊँ किंतु सामर्थ्य न थी। इंद्रियाँ शिथिल पड़ गईं। अपना श्वास भी सुनाई न पड़ता था। अपनी पूर्ण शक्ति एकत्र कर उसकी ओर देखा तो उसके मुख पर किंचित मात्र भी दुःख या शोक का भाव न था। उसकी माधुरी उड़ गई थी किंतु उसका स्थान दृढ़ता और कठोरता ने ले लिया था। उसके नेत्रों से ज्वालाएँ निकलती थीं। वह भूखी बाघिन-सी अपनी तीव्र दृष्टि द्वारा संसार को भस्म कर देना चाहती थी। उसके मुख पर प्रतिहिंसा, प्रतिशोध की भावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती थी। मैंने धीरे से पूछा—

"ऐसा क्यों किया?"

"मुझसे पूछते हो?"

मैंने कुछ न उत्तर दिया।

"तुम समझते होगे कि हम लोगों का जीवन बहुत सुखकर होगा। बात दूसरी ही है। हम लोगों-सा नारकीय जीवन स्यात् ही किसी का हो।"

"तो फिर छोड़ क्यों नहीं देती?"

"मैंने स्वयं तो उसे अपनाया नहीं है।"

"फिर।"

"फिर क्या। नरक के कीड़े को नरक में ही सुख मिलता है। पतन की एक सीढ़ी उतरते ही आपसे आप पद नीचे की ओर उठते जाते हैं। उस पतन-क्रिया में ही हम सुख का अनुभव कर संतोष करती हैं।"

"अपने पतन के लिये तुम स्वयं जिम्मेदार हो।"

"हाँ, हो सकती हूँ कुछ अंशों में। किंतु उस जिम्मेदारी से आप नहीं बच सकते। आप और आपका समाज भी उसके लिए उत्तरदायी है।"

"कैसे?"

वह कहने लगी—"मैं तुम्हारे चाचा के घर अनाथ होने के कारण पली थी। तुम मेरे भाई थे। मेरा ब्याह हुआ। मैं विधवा हो गई। अब मुझे कौन पूछता या सहारा देता। शुभ कार्य के लिये मैं अशुभ थी। मेरे पति कोई जमींदार या महाजन तो थे नहीं। मेरे साथ मेरा यह पेट था। इसे तो किसी प्रकार भरना ही था। कै दिन भूखों कट सकता है। कच्ची अवस्था थी। कामी पुरुषों की कमी नहीं थी। मैं फँस गई। थोड़े दिन विधवा-विवाह का सब्ज बाग देखती रही। गर्भ रह गया। साथ-ही-साथ नरक का द्वार भी मेरे लिए खुल गया। यदि गर्भ न रहता तो जीवन के सुख में शायद कुछ अंतर न पड़ता। मेरे चाटुकार नूतन पति महोदय इधर-उधर करके चल दिए। मैं बिलखती रह गई। जहाँ जाती, दुतकारी जाती। कोई मकान भी किराए पर न देता। सभी पापिन कहकर पुकारते।

पुलिसवाले भी जाँच-पड़ताल करते। यही आपका समाज मुझे लातों से ठुकराता था। लाखों कड़ी बातें सुनाता था। कोई मेरे हाथ का छुआ पानी तक न लेता। मुझे बालावस्था से ही संगीत से प्रेम था। उसी संगीत ने मेरी सहायता की। मैं वेश्या हो गई। समाज जिसे लोग सभ्य-समाज कहते हैं, दौड़ पड़ा। जो मेरे हाथों का छुआ पानी तक न पीते थे वे आज मेरे जूठे पनडब्बे का पान खाते हैं। मैं मंदिरों में जाने लगी। गंगास्नान करने लगी। मैं संकल्प करती, वे दान लेते और आशीर्वाद देते। मेरे हाथ की खाद्य-सामग्री भी लेते न हिचकते।

समाज में मेरा स्थान हो गया। मैं समाज का एक मुख्य अंग बन बैठी हूँ। किसी को साहस नहीं कि मुझे एक शब्द कह सके। जब मैं पवित्र थी, तब भूखों मरती थी, दुतकारी जाती थी, कुलक्षणी कही जाती थी। लोग मेरे हाथ का जल स्पर्श करते भी हिचकते थे किंतु आज मैं मंगलामुखी हूँ। शुभ कार्यों में मेरा ही शुभागमन होता है। कितने लोग मेरे चरणों-तले लोटा करते हैं। मेरे संकेत पर अपने प्राण तक न्योछावर कर सकते हैं। समाज वही है। मैं वही हूँ। संसार वही है। अंतर इतना ही है कि तब मैं पवित्र थी अब मैं अपवित्र हूँ।''

किंतु तुम [redacted] क्यों हुई ?'' मैंने पूछा।

वह बोली—''जब तक मुझे संतान न होती तबतक शायद मैं हिंदू ही रहती। किसे अपनी संतान का मोह नहीं होता ? कौन नहीं चाहता कि मेरी संतान की उन्नति हो ? जबतक मैं हिंदू थी

तबतक मेरी संतान दोगली कहाती थी, लोग रमजना कहकर चिढ़ाते थे। किंतु आज मैं [redacted]म हूँ मेरी संतान [redacted]न है; उसे कोई दोगला नहीं कह सकता। यदि कोई कहेगा तो तुरंत उसका फल पावेगा। उसका शादी व्याह इत्यादि सब काम एक सभ्य[redacted]-मान नागरिक की तरह होगा।"

मैं निस्तब्ध था। मुझे कुछ सूझ न पड़ता था। मैं उसकी ओर ताकता रह गया। उसने फिर कहा—

"यह सब होते हुए भी मैं अत्यंत मानसिक यातना से सदा पीड़ित रहती हूँ। मुझे यह संसार सूना मालूम पड़ता है। यह जीवन भार हो गया है। हृदय में चिता लगी है। उसी की अग्नि में सर्वदा झुलसती रहती हूँ। यद्यपि कृत्रिमता ने मेरी ऊपरी बनावट वेश-भूषा में कुछ अंतर नहीं किया है किंतु भीतर से शरीर खोखला हो गया है। नित्य ईश्वर से यही मनाती हूँ कि मौत हो।

लोगों को धोखा दे-देकर बनावटी हाव-भाव में फँसा उनका धन अपहरण करने में ही हमारी सारी शक्ति लगी रहती है। हम अपने सौंदर्य को, यौवन को, शील को, लज्जा को, बेचते भी नहीं शरमातीं। भला इससे अधिक मनुष्य का नैतिक पतन और क्या हो सकता है। हमारे कारण कितने घर तबाह हो चुके हैं। कितनी सधवाएँ विधवा की तरह जीवन व्यतीत करती हैं। कितनी संतानों के दूध का छीना पैसा हम लोगों की झोली में आता है। इसे जानते हुए भी हम चुप रहती हैं। क्योंकि हमारा इतना पतन हो चुका है कि हम उस ओर सोच तक भी नहीं सकतीं। हमारे साथ न किसी

की सहानुभूति है न हमसे ही कोई सहानुभूति की आशा करता है। जबतक हम मनुष्यों की वासना तृप्त कर सकती हैं तभी तक हमारी पूछ है।"

कहते-कहते उसके नेत्रों से आँसू वह चले ; उसने उन्हें पोंछा नहीं। मैं इस अबला, अपनी छोटी बहिन की, जिसके साथ मैं खेल चुका था, करुण-गाथा सुन काँप उठा। हृदय रुक न सका। मैं अपनी बेवसी पर रो उठा। मुझे अपना वह सुहावना बाल-जीवन पुनः स्मरण हो आया। मैंने उसके आँसू पोंछते हुए कहा—

"रमा।"

"भैया" कहते-कहते वह मेरी गोद में मुँह छिपा रोने लगी।

चोर

घटा उमड़ पड़ी थी। मूसलधार पानी बरस रहा था। गंभीर मेघ-गर्जन से चेतन जगत चिहुक उठा था। बच्चों ने माँ की गोद में मुख छिपा कान मूंद लिए। गरीबों के लिये प्रलय था। धनियों की प्रकृति-क्रीड़ा थी। कवियों के उद्बोधन की सामग्री थी। नगर की पाषाण-गलियों में वर्षा भी अपना उग्र प्रलयकारी रूप न प्रकट कर सकी थी। वह पत्थरों से बने ऊँचे मंदिरों की दृढ़ प्राचीरों से डरती थी, सहमती थी, मुख छिपाती थी। वहाँ रुपयों के तोड़ों की खनखनाहट में, स्वर्ण की चमक में, उसकी गरज, उसको दहलानेवाली चमक फीकी पड़ जाती थी। वह अपने क्रोध में उन ग्रामीणों, उन दरिद्रता देवी के एकांत उपासकों की कच्ची मिट्टी से बनी फूस या खरपात से ढकी झोंपड़ियों का अस्तित्व मिटाने में ही अपनी शक्ति का परिचय दे रही थी।

आधी रात बीत चुकी थी। गाँव के ताल पोखर सब भरकर उमड़ चले थे। चारो ओर जल ही जल था। जल की गति, बिजली की गरज और कभी-कभी वृक्षों से पक्षियों का गिरकर छटपटाना, यही उस स्थान की नीरवता भंग करते थे। जीव-जंतु अपने-अपने स्थानों पर चुपचाप पड़े थे। मेघ अपनी विजय पर अट्टहास कर रहा था। गाँव के एक कोने में पेड़ों की झुरमुट में एक झोपड़ी थी। झोपड़ी के चारो ओर पानी था। दरवाजे पर मिट्टी को गेंड़कर

बाँध बना लिया था। दरवाजे में किवाड़ न थे। फूस की टट्टी रखी थी। भीतर पूरा अंधेरा था। पानी टपक रहा था। लोहे के तसले और घर के कुल इने-गिने बरतन टपकती बूंदों के नीचे रखे थे। बरतन भरते ही एक हट्टाकट्टा काला जवान उठता और पानी बाहर फेंक उन्हें यथास्थान रख देता।

झोपड़ी क्या थी दरिद्रता देवी का सुंदर मंदिर था। एक कोने में बैठे दो व्यक्ति देवी की नीरव उपासना कर रहे थे। वही झोपड़ी उनका स्वर्ग थी, राज्य थी, उनकी कल्पना की एकमात्र वस्तु थी। जन्म से ही वे अपने जीवन की नीरस घड़ियाँ गिन रहे थे। चौबीस घंटे में कम से कम एक बार मृत्यु का आह्वान निश्चय ही कर लिया करते थे, किंतु वह भी इन्हें भूल बैठी थी। वे थक जाने पर एक दूसरे का मुँह देखकर संतोष करते थे। एकांत वेदना तथा दुःख की कल्पना ही उनके जीवन की कहानी थी। कितने ही दिन चिराग न जलते, चूल्हे पर लोहे का तसला न चढ़ता। न मालूम वर्षा के कितने दिन रो-रोकर एक दुसरे की गोद में अपना मुख छिपाकर उन लोगों ने काटे होंगे। सवेरा होते ही वे निकल पड़ते। शाम को लौटते तो उनकी फटी अंगोछी में तीन पाव अखरा बँधा होता। चूल्हा सुलगता। कच्चा-पक्का खा, पानी पी, संतोष की आह भरते। सोने के समय माँ कहाते कहते, युवक सुनते सुनते सो जाता। मां भी पैताने लेट रहती। रात में माँ कई बार उठती। फटी पुरानी कथरी युवक के बदन से हट जाने पर फिर ओढ़ाकर प्रेम से हाथ फेरती। दुलार से अनजाने मस्तक चूम लेती। इसी प्रकार न जाने

कितने साल कट गए। संसार कितना आगे बढ़ गया। कितना उलट फेर हुआ। इसकी उन्हें चिंता न थी। जो कुछ रूखा-सूखा मिला, खा लिया, न मिला, सो रहे।

वाहर पानी बरस रहा था। दीवार तर हो गई थी। युवक अपनी माँ के पास बैठा उसका मुँह देख रहा था, पुआल की टूटी चटाई पर माँ का दुबला-पतला शरीर पड़ा था। पुआल की तकिया लगी थी। घर की एक मात्र पूँजी पुरानी फटी-सड़ी कथरी बदन पर पड़ी थी। कथरी के ऊपर भी घर में जो कुछ पुआल बच गई थी, पड़ी थी। माँ का शरीर काँप रहा था। वह रह रहकर कराह उठती थी। शरीर जल रहा था। दाँत कटकटा उठते थे। वह सिहिर उठती थी। युवक घबरा कर अपने चारो ओर शून्य अंधकार में देखता। बिजली कड़ककर उसका उत्तर देती, उसकी इस दीन दशा पर हँस उठती।

ज्वर का वेग बढ़ रहा था। माँ का सारा शरीर जूड़ी से काँपने लगा। युवक ने माँ को अपनी गोद में दबा लिया। उसका शरीर भी जल उठा। तब भी माँ को कुछ चैन न पड़ी। युवक को अपनी विवशता पर ग्लानि उत्पन्न हो रही थी। उसे कुछ सूझ न पड़ता था। वह बरतनों का पानी पुनः फेंक, यथास्थान रख, झोपड़ी के बाहर निकल पड़ा। ऊपर पानी बरस रहा था, नीचे खेतों में पानी बह रहा था। चारो ओर पानी ही पानी था। युवक दौड़ रहा था। उसका पसीना और पानी एक हो चले थे। वह सीधे अपने जमींदार के घर पहुँचा। बैलों की चरनी के सामने ओसारे में रहट्ठों का

ढेर रखा था। पास ही चौकीदार सो रहा था। उसने रहट्ठा खींचा। चौकीदार ने गुर्राकर कहा—

"कौन है रे ?"

"मैं हूँ, बिंदा।"

"क्या है ?"

"रहट्ठा चाही।"

"काहे ?"

"माँ मर रही······।"

"चोरी करता है। छाड़ दे चला जा। नहीं तो सवेरे मालूम हो जाई।"

"हम तो लेब।"

चौकीदार को आगे कुछ कहने का साहस न हुआ। बिंदा रहट्ठा ले उलटे पैर भाग पड़ा। माँ अब बेहोश हो चली थी। उसने रहट्ठे तोड़कर आग जलाई। किसी प्रकार रात कटी। माँ की हालत खराब ही होती जा रही थी। उसने अपनी झोपड़ी ढूंढ़ डाली। दो सेर दानों के सिवा और कुछ न था। उसने निराश दृष्टि से अपनी झोपड़ी को एक बार फिर देखा। दरवाजे पर टट्टी लगा फिर जमींदार के यहाँ पहुँचा। कचहरी लगी थी। चौकीदार ने रहट्ठे की बात खूब बढ़ा चढ़ाकर कही। पहुँचते ही जमींदार ने डाँट-कर कहा—

"क्यों बे, रात को चोरी करता है ?"

"नहीं सरकार।"

"झूठ बोलता है। याद रख, बँधवाकर खाल खिंचवा लूँगा।"

"सरकार, माँ बीमार है……।"

"क्या हुआ है ?"

"बुखार चढ़ा है।"

"तो तू आज हर न जोतेगा ?"

"आज तो छुट्टी चाही सरकार।"

"हूँ।"

"हजूर, एक अर्ज हौ।"

"कह।"

"कुछ रुपया उधार मर्जी हो जात तो माँ के दवा करीत।"

"रुपया नहीं है, जा हर ला, खेत जोत।"

"सरकार, जनम भर आप क जस गाइब।"

"बकबक मत कर, जा।"

"सरकार खेतवा जनम भर हम ही न जोतत हुई, दो सौ बिगहवा। आन कोई थोरो जोतै आवत हौ।"

"सीधे से हर उठा, नहीं तो याद रख।"

बिंदा ने आह भरते हर उठाया। आज हर बहुत भारी मालूम पड़ा। खेत पर जाते उसने अपनी झोंपड़ी में पुनः अपनी माँ को देखा। माँ बेहोश थी। बुखार उसी तरह चढ़ा था। बिंदा लौटा। बैल जोतकर हल चलाने लगा। उससे हल चलता न था। जोतते जोतते उसने हल छोड़ दिया। कसबे की ओर दौड़ पड़ा। कसबा वहाँ से पूरे चार कोस था। वहाँ एक डाक्टर रहते थे। बिंदा ने

उनसे सब हाल कह सुनाया। डाक्टर दयावान थे। उन्होंने दो गोली दे दी। उन्होंने बिंदा को विश्वास दिलाया कि यदि वे उसकी माँ को देख लें तो शायद उसे आराम कर सकेंगे। लेकिन खर्च पूरे पाँच रुपए लगेंगे। पाँच रुपया! बिंदा के लिए यह बहुत बड़ी समस्या थी। किंतु उसे विश्वास हो गया कि शायद माँ अच्छी हो जाय। उसने डाक्टर की दी हुई दो गोली माँ को खिलाई और मन मार उसके पास बैठ रहा। कल पाँच रुपया चाहिए और आज एक पैसे का ठिकाना न था। रात धीरे धीरे बढ़ रही थी। एकाएक कुछ सोचकर उठा। झोपड़ी के बाहर गया। पुनः लौट आया। वह आगे बढ़ना चाहता था, पर पैर न उठते थे। उसने अपनी माँ के सूखे मुख की ओर एक बार और देखा। लाठी ले झोपड़ी के बाहर निकल पड़ा। आधी रात हो रही थी। बिंदा जमींदार के मकान पर चढ़ गया। यह उसके मालिक का घर था। एक एक कोने से परिचित था। माँ बेटे दोनों अपने परिश्रम से हजारों मन गल्ला हरसाल पैदा कर इस घर को भरते थे और खुद दो दाने अखरे पर संतोष करते थे। उनके संतोष पर, त्याग पर, परिश्रम पर दूसरे गुलछर्रे उड़ाते थे और वे अपनी फटी कथरी में मुख छिपाए मृत्यु को बुलाते थे। बिंदा को देखते ही जमींदार ने कड़क-कर कहा—

"चोर?"

"हाँ।"

"क्यों बिंदा?"

"हमें रुपया चाहिए माँ मर रहीं......।"

"चोरी करने आए हो ?"

"आप देत हौ कि नाहीं।"

"सवेरे बड़े घर चले जाओगे।"

"सवेरे देखल जाई।"

जमींदार उठना चाहते थे, बिंदा ने लाठी तानी। छुटकारा न देख उन्होंने धीरे से पाँच रुपया निकालकर दे दिया। बिंदा कूद कर भागा। चोर चोर हल्ला हुआ। लोग पीछे दौड़ पड़े। बिंदा अंधकार में गायब हो कसबे की ओर चल पड़ा।

सवेरा होते ही डाक्टर साहब आए। माँ को देखा, परीक्षा की। बिना कुछ कहे ही छः खुराक दवा देकर कहा कि घंटे घंटे भर-पर पिलाना, फिर खबर देना। बिंदा माँ के पास बैठ दवा पिलाने और उसके मुँह की ओर चुपचाप देखने लगा। नौ बजे थे। माँ ने आँख खोली। बिंदा की ओर आँखें घूम गईं। आँसू बह चले। बिंदा का भी हृदय उमड़ आया। वह भी रोने लगा। माँ की छाती पर मुख रख हिचकियाँ लेने लगा। बिंदा लड़का बन गया था। आँसू रोके न रुकते थे। माँ की छाती में मुँह छिपा लिया। वहाँ उसे शांति मिली। माँ ने अपने बच्चे को रोते देख उठना चाहा। आधी भी न उठी थी कि गिर पड़ी। बिंदा सहम उठा। माँ के आँसू पोंछ डाले। उसने अपना ठंडा गाल माँ के जलते गाल पर रख दिया। माँ-बेटे उसी तरह पड़े थे। दोनों के आँसू मिलकर पुआल की फटी चटाई भिगो रहे थे। इसी समय बाहर से किसी ने भारी

स्वर में पुकारा।

"बिंदा है ?"

"हाँ।"

"बाहर आ।"

बाहर आते ही उसने देखा, दारोगा जी दल-बल-सहित द्वार पर खड़े हैं। जमींदार अपने चौकीदार के साथ उनके पीछे खड़ा था। बिंदा समझ गया कि बड़े घर की तैयारी है। वह चुपचाप खड़ा रहा। दारोगा ने इशारा किया। सिपाहियों ने हथकड़ी पहना दी। बिंदा किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया। भीतर माँ मर रही थी। बाहर जेल की तैयारी थी।

झोपड़ी से आवाज आई—

"बिंदा।"

बिंदा चमक उठा। उसके हाथ बँधे थे। सिपाही चारो ओर खड़े थे। रस्से सिपाहियों के हाथ में थे। इसी समय फिर माँ ने कहा "बेटा ····· बिंदा ?"

बिंदा कड़क उठा। एक ही झटके में सिपाही दूर जा पड़े। उसने झोपड़ी में प्रवेश करके कहा—

"माँ।"

वहाँ माँ न थी। प्राण-पखेरू उड़ गए थे। बिंदा माँ की छाती पर गिर पड़ा। बाँध टूट गया। हिचकियाँ बँध गईं। सिपाहियों ने उसे उठाते हुए कहा—

"चलो।"

तुलसी का ब्याह

'तुलसी ?'

'हाँ ! तुम्हारा भी ब्याह इसी तरह एक दिन होगा।'—युवती ने मुस्कराते हुए कहा।

बालिका लजा उठी, युवती से लिपट, उसकी धोती में मुख छिपा लिया। युवती बालिका के उड़ते घुँघराले बालों युक्त मस्तक पर प्रेम-पूर्वक हाथ फेरने लगी। युवती ने ज्योंही बढ़ने के लिए पैर उठाया, बालिका ने उँगली पकड़कर कहा—चाचीजी ! किससे ब्याह होगा ?

'भगवान् से।'

'भगवान् ?'—बालिका ने आश्चर्यपूर्वक चारों ओर देखते हुए पूछा।

'हाँ।'

'वह तो दिखाई नहीं पड़ते।'

'सब जगह हैं बेटी। वह अंतर्यामी हैं।'—युवती ने सलिला भागीरथी की ओर देखते और गंभीर श्वास लेते हुए कहा।

युवती पुनः चलने का उपक्रम करने लगी। बालिका ने उँगली खींचते हुए कहा—चाची ?

युवती घूमकर खड़ी हो गई।

'ब्याह न देखोगी ?'

युवती ने कुछ उत्तर न दिया।

'देखो, वहाँ ढोल बज रहा है, सब लोग गाती हैं।'

'गाने दो बच्ची ! चलो हम नहा आवें।'

'क्यों माँ ?'

'देर होगी।'

'नहीं छोटी माँ, मैं ब्याह देखूँगी'—बालिका ने प्रेम से युवती की धोती हिलाते हुए उसके मुख की ओर आकुल नेत्रों से देखकर कहा।

'शुभ कार्य में मेरा जाना ठीक नहीं है।'

'क्यों रानी माँ ?'

युवती कुछ उत्तर न दे सकी। बालिका को उठाकर छाती से लगा लिया। रक्त अधर गुलाबी गालों पर जा लगे। बालिका को फुसलाते हुए कहा—चलो नहा आवें।

'नहीं, चाचीजी।'

'फिर देख लेना। घर पर हमलोग भी अपनी तुलसी का ब्याह करेंगी। तुम माड़ो का प्रबंध करना। और मैं पाहुर बनाऊँगी। बारात आने पर हम सब मिलकर गावेंगी।'

'नहीं छोटी माँ, जहाँ सब लड़कियाँ बैठी हैं, वहाँ मैं भी बैठूँगी।'

'रानी बिटिया अभी नहीं। अपने ब्याह का न्योता लेकर आना तो उन लोगों को देना भी और बैठना।'

'अच्छा चाचीजी थोड़ी देर ही बैठो न !'

'भला हम लोग कैसे बैठेंगी ? कुछ न्योता या करनी तो साथ लेकर आई नहीं हूँ। कल आना तो बैठना।'

'नहीं छोटी माँ, आज ही।'

'नहीं लक्ष्मी बिटिया।'

'माँ ?'

बालिका का प्रफुल्लित मुख उदास हो उठा। वह युवती के मुख की ओर एक टक देखने लगी। युवती बालिका का उदास मुख देख विकल हो उठी। उसने उदास होकर कहा—अच्छा मुन्नी तुम बैठो। मैं नहाकर आती हूँ।

'तुम न चलोगी ?'

'नहीं बच्ची ! तुम देखो, मैं अभी आती हूँ।'

'क्यों रानी माँ ?'

यदि वे मुझे वहाँ न बैठने दें, तो तुम क्या करोगी नन्हीं ?' युवती ने मुस्कराते हुए बालिका का मुख चूमकर कहा।

'मैं लड़ूँगी: लेकिन छोटी माँ ! तुम्हें क्यों न बैठने देंगी ?'

'क्योंकि तुम्हारे चाचाजी नहीं हैं बेटी।'—युवती ने जान्हवी की ओर मुख करके कहा।

वह उदास हो उठी। बालिका कुछ समझ न सकी। माँ का म्लान मुख देख उसका भी मुख कुम्हला उठा। उसका सब उत्साह

समाप्त हो चुका था। उसने धीरे से आगे बढ़कर कहा।

'चलो माँ, नहा आवें।'

'नहीं मुन्नी, चलो मैं भी चलती हूँ!'—युवती ने बालिका को गोद में उठाकर छाती से लगाकर कहा।

स्त्री का हृदय बालिका के उदास मुख को देख कचोट उठा था। बालिका ने युवती के गले में हाथ डाल एवं कंधे पर अपना गाल रखकर कहा—माँ!' वे तुम्हें खुनसायँगी ?

'नहीं बेटी! खुनसाने से क्या होता है।'

'ना माँ।'—कहते-कहते बालिका ने माँ के वक्षस्थल में मुख छिपा लिया। माँ के पलक अश्रुकण-पूर्ण हो गए। उन्हें अंचल से पोंछती हुई बालिका को हृदय से लगाए भागीरथी की ओर उतर चली। मैं किंकर्तव्य-विमूढ़-सा खड़ा रह गया।

उषा स्मित हो उठी थी। उस स्वर्गीय स्थिति पर मुग्ध हो आकाश-दीप नेत्र मूँद चले थे। तटवर्ती गगनचुंबी मंदिरों एवं धवल भवनों के झरोखों में बैठे पक्षीगण उषा-अभिनंदन में अपनी माधुरी उँड़ेल रहे थे। चारु लोल लहरें अर्घ्य की गिरती जलधारा-द्वारा उन्मथित हो सोपानों को जाग्रत जगत् का स्मरण दिला रही थीं। दूर पर बैठे स्तवन-निरत भक्त के प्रफुल्लित हृदय-द्वारा उठते पदों के आरोह एवं अवरोह में हृदय-तंतु झंकरित हो उठे थे।

धीरे-धीरे वह स्मिति आकाश-पथ में विलीन होने लगी। जाग्रत जगत् ने भी करवट बदली। बने भिखमंगों पाखंडियों एवं शोहदों से गंगा का पवित्र तट भरने लगा। स्वार्थी हृदयों की कपट-पूर्ण मीठी

ध्वनियों-द्वारा अरुण देव गर्म हो चले। कितने त्रिपुंड एवं गोपी-चंदन-धारी गत दिवस का पाप, माँ गंगा की पवित्र गोद में रख, नवीन की रचना करते सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। मैं भी अपने पापों पर विचार करता धीरे-धीरे सीढ़ियाँ समाप्त कर रहा था। ऊपर फर्श पर आया ही था कि, एक पंचवर्षीया बालिका इधर-उधर आश्चर्य-पूर्वक देखती, सीढ़ी उतर रही थी। उसके पीछे षोडस वर्षीया युवती श्वेत वस्त्र पहने, धोती दबाए, ताँबे का कमंडलु लिए उतर रही थी। युवती ने बालिका को संबोधित कर कहा—धीरे-धीरे उतरो न!

बालिका घूमकर खड़ी हो गई।

'गिर पड़ोगी, संग चलो बेटी।'

बालिका ने फर्श पर एकत्र हुए स्त्रियों एवं बालिकाओं के झुंड की ओर उँगली उठाते हुए पूछा—छोटी माँ, यह क्या है?

'तुलसी का ब्याह।'

भिखारी

"जानते हो ?"

"क्या ?"

"मैं संसार की सब वस्तुएँ खरीद सकता हूँ।

"और कुछ ?"

"मैं मनुष्यों को खरीद सकता हूँ।"

"और कुछ ?"

"लाखों प्राणियों को भोजन दे और भूखा मार सकता हूँ।"

"और कुछ ?"

"मैं सुख, शांति, नाम, पद सब चमकती चाँदी के बल पर ले सकता हूँ ?"

"बस ?"

"और तुम्हें क्या चाहिए ?"

"तुम संसार खरीद सकते हो, मनुष्य का शरीर खरीद सकते हो, किंतु ·····।"

"किंतु क्या ?"

'तुम हृदय नहीं खरीद सकते।"

"क्यों ?"

"किसी के हृदय में तुम जबर्दस्ती श्रद्धाभक्ति-प्रेम नहीं उत्पन्न कर सकते।"

"क्यों? मेरे संकेत पर लाखों प्राणी प्राण दे सकते हैं। जब मैं चलता हूँ, तो कितने ही लोग श्रद्धा-भक्ति से मस्तक झुका लेते हैं। कितनी ही कामिनियाँ मुझसे मिलने को उत्सुक रहती हैं।"

"यह सब ठीक है।"

"फिर?"

तुम्हारे लिए नहीं, तुम्हारी चमकती चाँदी के लिए।"

"झूठ।"

"समय बतावेगा।"

मैं अपने मित्र के यहाँ से चल पड़ा। मैं गरीब था। मुश्किल से पचीस रुपया महीना मिल जाता था। उसी में किसी प्रकार अपने छोटे से कुटुंब के साथ गुजर करता था। जो कुछ श्रीमतीजी दे देती थीं, ईश्वर का प्रसाद समझ पा लेता था। न आगे की चिंता थी, न पीछे की कुछ फिकर। अपने बाल-बच्चों में हँसता, खेलता, कहानी कहता और सुनता था। मेरे लिए वही स्वर्ग था, ईश्वर का दरबार था। हम सभी एकदिल थे। छल-कपट हमसे कोसों दूर था। पूरी सादगी और सचाई ही हम लोगों का आधार थी। कभी कोई भिखमंगा फकीर माँगता दरवाजे पर आ गया तो उसे अपनी सामर्थ्य के अनुसार एक चुटकी आटा दे देते थे। वह भी बच्चों पर हाथ फेरता, सच्चे मन से आशीर्वाद देता, चला जाता था।

घर पहुँचते ही बच्चे मुझसे लिपट गए। प्रश्नों की झड़ी लग

गई। किसी ने हाथ पकड़ा तो किसी ने पैर, और किसी ने कुरते ही को खींचना आरंभ कर दिया। मैं भी किसी को चूमता, किसी पर हाथ फेरता, किसी को गोद में उठाता, उनकी माता के पास पहुँच गया। बासी रोटी बच गई थी। दाल ताजी बनी थी। हम अपने छोटे से कुटुंब के साथ अन्नदेव की पूजा करने लगे। इसी प्रकार हमलोगों ने हँसते, खेलते, कूदते न मालूम कितने दिन बिता दिए।

किसी का दिन एक-सा नहीं बीतता। ज्ञानी, अज्ञानी, धनी, निर्धन सभी इस संसार का अनुभव करते और अपनी-अपनी राम-कहानी कहते या लिखते रहते हैं। मेरे मित्र धनी थे। कितनी ही मिलों के मालिक थे। बड़ी जमींदारी थी। धन रखने को जगह न थी। चापलूसों, स्वार्थियों और मक्कारों की उनके दरबार में कमी न थी। किलनी की तरह सभी उनसे चिपके रहते थे। सभी की दृष्टि खनखनाते गोले चमकते चाँदी के टुकड़ों की ओर लगी रहती थी। मित्र और मैं एक साथ पढ़े हुए थे। उसी समय से कुछ प्रेम हो गया था। मालिक होते ही मित्र को बहुत से नए मित्र मिल गए थे, फिर पुराने की कदर कौन करता। मैं भी साल में एकाध बार चला जाया करता। मैं गरीब था, वे अमीर थे। गरीब-अमीर में भला मित्रता कैसे होती। उनका मापक यंत्र था रुपया। वे उसीके आधार पर संसार की सब वस्तुओं का दाम आँकते। मैं दरिद्र था। मेरे हृदय था। मैं भी संसार को अपने हृदय की उठती लहरों द्वारा मापता था।

मेरे भी मित्र थे, साथी थे। सभी गरीब, मेरे जैसे मजदूर थे। दिनभर पैदा करते, शाम को चूल्हा दागते। जो कुछ मिल जाता कच्चा-पक्का खा-पीकर सभी एक जगह बैठ जाते। रामायण होती, कहानी-किस्से छिड़ते, सब एक दूसरे के सुख-दुःख के साथी थे। भगवान ने हमें गरीब बनाया था किंतु हृदय सभी को दिया था। हम दूसरे के दुःख-सुख की परख अपने अनुभव के अनुसार करते थे। सभी एक दूसरे की सहायता के लिए सदा कमर कसे रहते थे। सभ्य समाज की दृष्टि में यह निम्न श्रेणी थी। मजदूरों का अपढ़, मुंड था। हममें से अधिकांश मित्र की मिलों में काम करने वाले थे। सभी मजदूरी की शिकायत करते। मेरे मित्र को उठते बैठते कोसते। पूछने पर कह बैठते कि माल तो हम पैदा करते हैं और फायदा वह उठाता है। मुनाफे का चौथाई भाग भी हमें नहीं देता। मिलों के बड़े कर्मचारियों की तनखाह तो बढ़ती जाती है और हमारे गले पर रोज छुरी फेरने की कोशिश की जाती है। मैं सुनता और चुप रह जाता। क्या करता, विवश था। गरीब था। भाग्य के हाथों का खिलौना था।

× × × ×

संयोगवश मेरे मित्र बीमार पड़े। अखबारों में, नगर में तहलका मच गया। रोज उनके थर्मामीटर की डिग्री का हाल छपता। सभी लोग उनका हाल जानने को व्यस्त थे। सभाओं में उनकी शुभकामना के लिए प्रस्ताव होने लगे। चारों ओर से सहानुभूति की बाढ़ आ गई थी। किंतु मित्र का वास्तविक हाल क्या है कोई

न तो जानने की चेष्टा करता, न उनकी सहायता का प्रयत्न। मेरे मित्र की अवस्था सुधरती न थी। मैं सोचता कि मैं गरीब हूँ उनकी भला क्या सेवा कर सकता हूँ। उनके समीप जाने में भी संकोच होता था। पर मन ने न माना। आगा-पीछा करते गया। उनका शरीर गल गया था। हड्डी रह गई थी। ज्वर उतरता न था। डाक्टर-वैद्यों की धूम थी। रुपया पानी की तरह बहाया जा रहा था। अंग्रेज दाइयाँ सेवा में लगी थीं। नौकर-चाकर सभी अपने मालिक के दुःख में सहानुभूति प्रकट कर रहे थे। मेरा पहुँचना असंभव-सा हो गया था। मैंने सोचा कि जहाँ इतने बड़े-बड़े लोग सेवा आदि में लगे हैं वहाँ भला मेरी क्या गिनती होगी। मैं रोक लिया गया। मेरी वहाँ पहुँच न हो सकी।

मैं जाता और उनके राजप्रासाद की परिक्रमा करता। नौकरों से हाल-चाल पूछ उलटे पैर लौट आता। आज मैंने निश्चय कर लिया था कि किसी प्रकार अवश्य भेंट करूँगा। बंबई के एक प्रसिद्ध वैद्य आए थे। उनकी मोटर फाटक पर आ लगी। वहाँ कोई नौकर न था। मैंने लपककर उनका बकस उठा लिया। अब भला कौन रोकता। मैं अपने मित्र के पास पहुँच ही गया। वैद्यजी ने परीक्षा की, औषधि दी और अनुपान आदि बता एक हजार रुपए जेब में रख चल दिए। केवल मैं और दो सफेद दाइयाँ कमरे में रह गईं। उन्होंने जाने का संकेत किया। मैं उठना ही चाहता था कि मित्र ने आँखें खोलीं। मुझे देखते ही वे मुस्कराए। मैं भी मुसकरा उठा। उन्होंने पास आने का संकेत किया। मैं उनकी चार-

पाई के पास जाकर बैठ गया।

आज हम लोग बहुत दिनों के बाद मिले थे। बाल्य काल पुनः स्मरण हो आया। अपने मित्र की शोचनीय अवस्था देखकर मेरे आँसू रुक न सके। मैं रो पड़ा। मित्र को आश्चर्य हुआ। उनकी दृष्टि मेरी ओर घूम पड़ी। वे कुछ बोले नहीं। गहरी साँस खींचते हुए करवट बदल ली। मैं उसी प्रकार दो घंटे बैठा रहा। मित्र को निद्रा आ गई थी। उन्होंने पानी माँगा। तुरंत गिलास उनकी ओर बढ़ा दिया। उनके बड़े-बड़े नेत्र जल पीते समय मेरे मुँह पर स्थिर हो गए थे। वे कुछ सोच रहे थे। पानी पी चुकने के पश्चात् मैंने उनका मुँह पोंछ गिलास रख दिया। मैं घर जाना चाहता था। बच्चे घबरा रहे होंगे। उनकी माँ भी बिना भोजन किए मेरे लिए चिंतित होगी। मैं उठ खड़ा हुआ। मेरे मित्र के सूखे नेत्र मेरी ओर घूम पड़े। मैंने कहा—"जाता हूँ फिर आऊँगा।"

उन्होंने कुछ उत्तर न दिया। उनके नेत्र जमीन की ओर लग गए। मैंने फिर कहा "चिंता न कीजिए ईश्वर सब अच्छा करेगा।"

"हूँ।" कहकर मित्र ने करवट बदली। मेरे पैर आगे न उठ सके मैं। पुनः उनकी चारपाई के पास बैठ गया। कुछ समय पश्चात् मित्र ने फिर करवट बदली। मुझे देखकर कहा "जाओ देर होती होगी।"

"चला जाऊँगा।"

"बाल बच्चे चिंतत होंगे।"

"नहीं कोई हर्ज नहीं।"

"नहीं जाओ, फिर आना।"

मैं उठ खड़ा हुआ। रास्ते पर अपने मित्र की आवश्यकता पर सोचता रहा। घर पहुँचा तो बच्चे चाँव चाँव करके देर होने का जवाब तलब करने लगे। मैंने कुछ हाल श्रीमतीजी से कह दिया। अपनी इच्छा भी प्रकट की कि यदि आज्ञा हो तो मित्र की सेवा में ही रात बिताई जाय। तुरंत प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा मिल गई। बाहर निकलते ही मित्र का मेरा पड़ोसी मिस्त्री मिला। मिलते ही उसने कहा—

"देखा न पाप का फल भगवान अस देत है।"

"का भा है हो?"

"मालिक मरत हैं।"

"काहे?"

"पाप बहुत कीन है। अब ओकर फल भोगें।"

"भाई अस मत कहो। भगवान सब कर मालिक हैं। सबपर दुःख सुख आवत है।"

"दादा बात तो ठीक कहत हौ। लेकिन हम भी न आदमी हई, हमरो बाल बच्चा न माना होलन। देखत तो हौ कै पैसा हम लोग के मानगी में खरच होत है? हम गरीबन क मजदूरी काट के पैसवा इकठ्ठा कैले हवन, वोही से हजार रुपया फीस दिहल जात हो कि कहीं से हर जोत के इकट्ठा कइलन ह?"

उसी समय उसकी स्त्री निकल आई। आते ही उसने कहा—

"मालिक क नमक खाके ओनही के कोसत बाट? राम राम

तोहार गत कवौं न बनी। भगवान सबही के दुःख सुख देत हैं।"

'देखत, भौजी ठीक कहत हौ। अब कोई क दुःख देख के कबहूँ मत हँसे।" मैंने कहा।

बात होते होते सभी पड़ोसी इकट्ठे हो गए। सर्वसंमति से यही निश्चय हुआ कि मालिक विपत्ति में हैं उनकी रक्षा के लिए ईश्वर से प्रार्थना की जाय। अब क्या था। फटी चटाइयाँ और मैली कथरियाँ सड़क पर बिछ गईं। निश्चय हुआ कि मालिक के अच्छे होने पर सत्यनारायण की कथा हो। चंदा इकट्ठा होने लगा। मैली धोती की दोहरी तेहरी गाँठों में बँधे पैसे खुलने लगे। सवा रुपया बात की बात में एकत्र हो गया। प्रार्थना के पश्चात सभा विसर्जित हुई। मैं अपने मित्र की ओर चल पड़ा।

\+ + + +

मेरे मित्र की तबीयत सम्हल चली थी। दिन भर मैं अपना काम करता, और रात को उनकी सेवा में लग जाता। मेरा कठिन परिश्रम देखकर उनके नौकर-चाकर मन-ही-मन भुनभुनाते और ईर्ष्या करते। मैं किसीसे बिना कुछ बोले-चाले अपने काम में लगा रहता। मैंने अपनी आँखें मूँद ली थीं, कान बंद कर लिए थे। मेरे संमुख एक ही प्रश्न था, एक ही समस्या थी—मित्र का स्वास्थ्य-लाभ। यद्यपि रुपए की माया ने बाहरी दिखावट में किसी बात की कमी नहीं रखी थी किंतु सभी पुतले प्रतीत होते थे। किसी में जीवन ज्ञात न होता था। वे सेवा करते थे, कर्तव्य की दृष्टि से, प्रेम से नहीं। उनकी सेवा का मूल्य था रुपया। उनकी आकांक्षा मित्र का

स्वास्थ्य-लाभ नहीं किंतु महीने में मिलनेवाले रुपयों की पुड़िया थी। मैं इस वायुमंडल में घबरा-सा गया। चारो ओर कृत्रिमता का ही जाल दिखाई पड़ता था।

मेरे मित्र भी कुछ-कुछ अनुभव करने लगे थे। उनको अपने बड़े-बड़े तनख्वाहदार नौकरों और दाइयों की अपेक्षा मेरे साथ अधिक सुख मिलता था। उनके पुराने मित्र भूल-से बैठे थे। मोटर पर सवारी करनेवाले, ठंडई छाननेवाले, तमाशा देखनेवाले साथी चाटुकार मित्रों का प्रायः पता न था। वे कभी-कभी आते और कोरी सहानुभूति दिखा अपना फर्ज अदा कर चल देते। वे कामिनियाँ, जिनके प्रेम की हमारे मित्र बड़ी तारीफ किया करते थे, मुँह भी दिखाने न आती थीं। उन्होंने नए शिकार तजवीज कर लिए थे। उन्हीं के गले लगी अपने प्रेम का सौदा करती थीं। मित्र की आँखें अभी पूरी नहीं खुली थीं। अब भी उन्हें विश्वास था कि धन से सब कुछ हो सकता है। बीमारी ने उन्हें अनुभव की कसौटी पर ला खड़ा किया था किंतु उनका अनुभव अभी कच्चा था। तीन महीने पश्चात् वे पूरे अच्छे हो गए। मैंने भी अपना आना जाना कम कर दिया। अब मेरी वहाँ क्या आवश्यकता थी। पुराने मित्र फिर नाना प्रकार का बहाना बता अपनी सफाई देते अड्डा जमाने लगे।

मित्र के अच्छे होने पर हम गरीबों के यहाँ सत्यनारायण की कथा हुई। आनंद, भक्ति, श्रद्धा के उल्लास में हम लोगों ने ईश्वर के अस्तित्व का साक्षात् अनुभव किया। प्रसाद बँटे, चरणामृत का दीया मिला। ईश्वर की देन समझ सभी ने पूर्ण विश्वास और

भक्ति के साथ ग्रहण करके अपने मालिक के स्वास्थ्य-लाभ पर ईश्वर को धन्यवाद दिया। प्रातःकाल होते ही मित्र का चपरासी लंबा लिफाफा लिए आया। मैंने लिफाफा ले लिया। खोला तो टाइप किए हुए धन्यवाद-पत्र के साथ-ही-साथ चेक था। बच्चों की माँ ने पूछा—

"क्या है ?"

"सेवा का बदला।"

"क्या" ?

"सेवा का पुरस्कार। अब तो समझा ?"

वह कुछ समझ न सकी थी।

"मेरे मित्र ने मेरी सेवा के बदले में रुपया भेजा है।"

"कितना ?"

"चार हजार।"

"इतना रुपया क्या होगा ?"

"नून तेल लकड़ी खरीदना।"

"नहीं।"

"क्यों ?"

"हम सब योंही सुखी हैं।"

"फिर और भी सुखी हो जायेंगे।"

"कोई तीमारदारी का भी रुपया लेता है ?"

"क्यों नहीं, डाक्टर, वैद्य, नौकर, चाकर, दाई।"

"तुम्हारी बुद्धि पर पाला पड़ गया है।"

वह झनझनाती बच्चों को उठाती भीतर चली गई। मैं भी मुस्कराते

अपने तीन पैर के टेबुल की ओर बढ़ गया। कलम उठाई। चेक की पुश्त पर लिख दिया कि मैं इतना बड़ा बोझा उठाने में असमर्थ हूँ।

मैं गरीब था किंतु भगवान ने मुझे जो कुछ दिया था वही बहुत था। उसीसे मेरा काम चल जाता था, मुझे पूरा संतोष था। मैं लोभ-माया तृष्णा के चक्कर में अपने सुख की परिधि विस्तृत नहीं करना चाहता था। मुझे अपने बाल-बच्चों के साथ अपनी टूटी झोपड़ी में ही आनंद था। आज छुट्टी थी। स्नान आदि कर रामायण पढ़ रहा था। बच्चों की स्लेट-पेंसिल पुटपुटा रही थी। इसी समय बाहर से आवाज आई। मैंने कहा—

"कौन है ?"

'भिखारी।"

बच्चे दौड़ पड़े। उनकी माँ एक छोटी कुरुई में चावल ले देने बाहर निकली तो भिखारी को देखते ही लौट पड़ी। बच्चे भी सहम गए। भिखारी अपनी फटी कथरी में न था। उसके हाथ में अधकटे दरियाई नारियल का भिक्षा-पात्र न था। मोटर द्वार पर खड़ी थी और वह नंगे पैर मेरे चबूतरे पर था। छोटे लड़के ने मेरी उँगली पकड़ बाहर की ओर संकेत किया। मैंने रामायण बंद की। चश्मा ताक पर रख बाहर आया तो देखा मेरे मित्र खड़े हैं। मेरे पाँव तले की मिट्टी खिसक गई। मैं चकपका गया। देखते ही मित्र ने मुस्कराकर कहा—

'भिक्षा न दोगे ?"

'मेरे पास क्या है ?"

'हृदय।"

समाप्त

बैंड

सैनिक बैंड, बैंड-स्टैंड पर जमा था। यार्कशायर रेजिमेंट का मसूरी में यह पहला प्रदर्शन था। श्रोता उमड़ पड़े थे। हिंदुस्थानी कम थे, श्वेतांग अधिक। सैनिक बैंड के थिरकते संगीत से सभी का हृदय मुग्ध था। पूर्वापर का कुछ ध्यान न था, केवल एक ही ध्वनि श्रवणगत थी; वह थी सैनिकों की उठती मानस तरंगों की कल्लोल। अपनी भाव-लहरियाँ सैनिकों की उठती तरंग-मालाओं में हिलमिल गई थीं। सैनिक अपने बाह्य यंत्र-परिचालन में लीन थे और हम उस निर्जीव यंत्र की उठती सजीव तरंगों पर मुग्ध हो रहे थे।

नर-नारियों की टोलियाँ बैंड स्टैंड के चारों ओर खड़ी और बैठी थीं। माताओं के संग बच्चों की भावुक दृष्टि सैनिकों की भड़कीली वर्दी एवं चमकते बटन तथा तमगों पर लगी थीं। सभी के लक्ष्य सैनिक थे। सभी की दृष्टि उसी ओर थी। शिक्षक के हाथ की पतली छड़ी के संकेत पर लहरियाँ उठती और गिरती थीं। हम सब शांत थे। पूरी नीरवता थी। वायुमंडल में केवल संगीत की कंपित ध्वनि ही प्रतिध्वनित होती थी। कभी-कभी गाना समाप्त

होने के पश्चात् तालियाँ बज उठती थीं। यत्र-तत्र देखकर लोग समालोचना किंवा तारीफ के पुल बाँध देते थे। श्रांतवृत्तियाँ थोड़ी देर के लिए शांत हो पुनः संगीत आरंभ होते ही उस ओर जा लगती थीं।

मैं भी एक कोने में लोगों से दूर खड़ा चुप-चाप सुन रहा था। मेरे ही समीप एक अंग्रेज नारी अपने पाँच-वर्षीय बालक के साथ खड़ी थी। हम सभी की दृष्टि बैंड-स्टैंड पर जमी थी। बालक चपल था। उसकी नीली आँखें चंचल थीं। घुँघराले पिंगल केश उड़ा करते थे। वह अपनी माता की उंगली थामे सड़क की रेलिंग के पास खड़ा था। वह आश्चर्यमय दृष्टि द्वारा कभी सैनिकों की भड़कीली वर्दी, कभी उनके रोबीले मुख की ओर और कभी अपनी माता के गंभीर मुख की ओर देखता था। मैं इस बालक की चपल प्रकृति तथा चंचल नीली आँखों की ओर देख मन-ही-मन खिल उठा था। बालक ने अनमना होकर अपनी माता की ओर देखते हुए उंगली हिलाकर कहा—

"माँ ?"

"बेटा ?"

"वे कौन हैं ?"

"बेटा, वे सैनिक हैं।"

"सैनिक ?"

"हाँ। तुम भी सैनिक होगे ?"

"हाँ, माँ।"

"क्यों ?"

"मुझे भी वैसा ही बाजा मिलेगा ?"

बालक ने बाजों की ओर उंगली से संकेत करते कहा। मां ने कुछ उत्तर न दिया। वह गंभीर हो गई। बालक ने फिर माँ के गंभीर एवं शांत मुख की ओर देखते हुए कहा—

"माँ ?"

"बचा।"

"मैं सैनिक हूँगा।"

"क्यों लाल ?"

"मैं भी वैसी ही चमकीली वर्दी पहनूंगा। गाऊँगा। हथियार लेकर चलूँगा। देश जीतूँगा।

"तुम और क्या करोगे नन्हें ?"

"तुम्हें गाना सुनाऊँगा।"

बालक ने फिर सोचकर कहा—"मैं अपनी चमकीली वर्दी पहन कर तुम्हें गाना सुनाऊँगा। तुम भोजन बनाना। हम सब मिलकर खायेंगे। रात को तुम सोना और मैं संगीन चढ़ाकर पहरा दूँगा।"

"फिर मेरे साथ रात को सोवेगा कौन लल्ले ?"

"मैं।"

कहते कहते बालक लजाकर माता से लिपट गया। माँ ने उसे उठा लिया। उसके गुलाबी गालों पर लाल अधर मिल गए। उसने प्रेम से बालक को अपने अंग में दबा लिया।

मैं नहीं समझ सका कि माँ का हृदय वेदना से भर उठा था वह आनंदोद्रेक का भाव था अथवा दोनों का मिश्रण। किंतु मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि उसमें पूर्णता किसी की भी न थी मैं बजते वैंड को सुनकर भी न सुन सका। मेरी वृत्तियाँ बालक एवं माता की ओर आकर्षित हो गई थीं। मैं उस बालक-सुलभ प्रश्न के विवेचन में लग गया था। बालक के प्रश्नोत्तर ने मेरा हृदय आंदोलित कर दिया था। बजते वैंड के बीच में अपनी इस उलझी समस्या को सुलझाने लगा।

मैं सोच रहा था कि यही संगीत आज हमारी सुप्त कोमल वृत्तियों को जगा अनजाने मनोहर देशों में विचरण करता हमारे मानस को उमड़ा रहा है और कल यही हमें रणक्षेत्र का लड़ता पशु बनाने में कुछ कोर कसर न रखेगा। यही मनुष्य जाति जो आज प्रेम, बंधुत्व आदि का सुखद स्वप्न संगीतों की उल्लोलों में देख रही है, कल हिंस्र पशुतुल्य पागल हो उठेगी। कल वही सैनिक होंगे, वही वाद्य-यंत्र होगा, वही शिक्षक की उछलती पतली छड़ी होगी किंतु उस संगीत में चीत्कार होगा, उसमें भैरव-नाद-सी गंभीरता होगी, सैनिकों की लड़ानेवाली, पागल बनानेवाली गाढ़ी लाल मदिरा होगी।

यदि आज यह संगीत मानव प्राणी के उत्साह, श्रद्धा, प्रेम, भक्ति संतोष एवं शांति की जननी है तो कल यही उनके विनाश का हेतु होगा। कल वे बंधुत्व, समवेदना, प्रेम भूलकर शत्रु बन जायेंगे। संगीत के ताल पर उनकी तलवारें नाचेंगी, अनजाने, अपरिचित,

निरीह अपने ही सैनिक कहलानेवाले भाइयों की हत्या करनी होगी। उन्होंने एक दूसरे को न देखा होगा। पूरे अपरिचित द्वेष और शत्रुता-रहित होंगे। दोनों अपनी माताओं की प्यारी संतान होंगे। दोनों की नारियों ने चलते समय मंगल गान गाकर विजय निमित्त ईश-प्रार्थना की होगी। दोनों के हृदय में विजयाकांक्षा के भाव जागृत रहे होंगे। दोनों ने अपने देश के लिये; स्वतंत्रता, शांति समृद्धि के नाम पर रणक्षेत्र में पदार्पण किया होगा।

यदि वे मित्र न होंगे तो शत्रु भी न होंगे। कितनों की संतानें होंगी। वे प्रेम करना जानते होंगे। मनुष्यों का दुःख देख उनका हृदय दयार्द्र हो उठता होगा। किंतु रणक्षेत्र में दुःख करुणा को देख नाच उठेंगे। उनकी पाशविक वृत्ति और भी जाग उठेगी। वे अपना अंतिम आघात करते क्षणमात्र के लिए भी न सोचेंगे कि वह व्यक्ति कवि है अथवा कलाकार है या सबकी भलाई चाहनेवाला विश्वबंधुत्व का प्रेमी है। वे यह भी न सोचेंगे कि वह अपनी वृद्धा माता की एक ही संतान अथवा अपनी नव विवाहिता स्त्री की एकमात्र आशा है। वे उसके वक्षस्थल को छेदते क्षणभर के लिए यह भी न सोचेंगे कि उसकी बिलखती नन्ही संतानों की क्या अवस्था होगी जो उसके आने की आशा लगाए बैठे हैं। वे यह भी सोचना भूल जायँगे कि उसके हृदय में भी वैसी ही आशा, भावना, कामना की चारु लहरें हिलोरें मार रही होंगी जैसी उनके हृदय में। वे यह भी न जान सकेंगे कि उस व्यक्ति ने अपना अंतिम निमेष उस हृदय को देखते हुए कराह कर बंद कर लिया है जहाँ

उसकी माँ विलखती हुई मरती होगी; स्त्री की सुंदरता, यौवन सुरभि असमय में ही सूख चली होगी; बच्चे दो दानों के लिये गली-गली मारे मारे फिरते होंगे।

मैंने उस बालक के भोले भाले सुहावने मुख की ओर देखा। मुझे उस बालक के मुख पर प्राकृतिक सौंदर्य एवं सरलता प्रतीत होती थी। उसके मुख पर अनायास हृदय को आनंदित करनेवाली चंचलता मिली कांतिपूर्ण सुंदरता थी। दूसरी ओर सैनिकों को देखा तो हृदय काँप उठा। उनकी गठीली परेड से मजी सीधी आकृति में मुझे उनका भाग्य उनके मस्तक पर लिखा स्पष्ट दृष्टिगोचर हुआ। जब मैंने यह सोचा कि यह मानव प्राणी द्वारा पोषित मानव जाति के नष्ट करनेवाले जीवित मानवीय यंत्र हैं तो मुझे अपनी मानव जाति के पतन पर ग्लानि उत्पन्न होने लगी। मेरा हृदय रो उठा कि क्या मनुष्य का जीवन इतना सस्ता और तुच्छ है?

मैं व्याकुल हो उठा। यद्यपि वे बालक तथा माँ अपरिचित थे किंतु मन में आया कि माँ के पैरों पर गिर पड़ूँ और हाथ जोड़कर प्रार्थना करूँ कि इस बालक को मनुष्य-विनाशक यंत्र का एक पुर्जा वना अपने संतानों की आप हत्या न होने दें। मेरे हृदय में दर्द उठने लगा। मैं उस कारुणीक परमेश्वर से पूछ वैठा कि भगवान किस पाप के लिए इस मनुष्य जाति का तूने इतना पतन किया है? किस अपराध का प्रायश्चित्त हम मानव प्राणी यहाँ कर रहे हैं? भगवान, यदि युद्ध देशोन्नति का साधन है तो क्या इस देशोन्नति की कोई मर्यादा भी है? वह कौन-सा स्वार्थ है जिसके लिए

हम लड़ते हैं ? वह कौन-सा महत् कार्य है, न्याय है जिसके लिए हम भुन उठते हैं ?

मैंने उस बालक की ओर फिर एक बार देखा। वह अपनी माँ के गले लगा था। माँ भी शांत थी। उसकी दृष्टि स्थिर एवं गंभीर थी। वह किसी दूरस्थित भूत किंवा भविष्य घटना देख रही थी। वह अपने विचार में तल्लीन थी। इसी समय बालक बोल उठा—

"माँ ?"

माँ का ध्यान टूट गया। वह बालक की ओर देखने लगी। बालक ने पूछा—

"माँ ! भैया भी तो सैनिक थे।"

"हाँ, मेरे बच्चे।"

कहते कहते माँ की आँखें डबडबा आईं। उसने बालक को पुनः छाती से दबा लिया।

"माँ ! वह भी बाजा बजाते थे ?"

"हाँ, लाल वह केप्टन थे।"

"माँ, भैया कहाँ हैं ?"

"वह लड़ाई में मर गए नन्हें ! तुम क्या करोगे पूछकर। चलो, घर चलें।"

माँ का हृदय अपने बड़े पुत्र की स्मृति से उमड़ा आता था। वह इस विषय को उठाना नहीं चाहती थी। बालक को इसका भला क्या ज्ञान था। वह माँ के गाल पर हाथ फेरते हुए फिर पूछ बैठा—

"कैसे मर गए माँ ?"

"वेटा, लड़ते-लड़ते मर गए।"

"किससे ?"

"सैनिकों से"।

"तो क्या माँ, ये बाजेवाले सैनिक आदमियों को भी मारते हैं ?"

"हाँ। नन्हें चलो घर चलें।"

"माँ !"

माँ ने अपने बच्चे के उदास सूखे मुँह की ओर देखा। बालक जैसे कोई बड़ी बात विचार रहा था। उसने धीरे-धीरे कहा—

"माँ मैं सैनिक न हूँगा।"

'क्यों लल्ले ?"

"ये आदमी को मारते हैं। तुम्हें भी मार देंगे माँ ! चलो घर चलें।"

माँ का मुख मलीन हो उठा था। बच्चे का मुख उदास हो लटक गया था। वह माँ की कोख में उसके कंधे पर मुख रखे बजते बैंड को देखता रहा और माँ अपना भारी कदम उठाती घर की ओर चल पड़ी। मैं उन माँ-बेटे की ओर देखता स्तंभित हो गया।

समाप्त

Oh, I will tell you, I am a first class Gunda, lofar, Badmash of the college.

Thanks. Let

कैदी

मथुरा जेल का पचासा पनपना उठा। कैदियों को छुट्टी मिली। थोड़ी देर के लिए वेदना ने विदा ली। लोहे के तसले कंबल फट्टे उठ पड़े। कतारबंद कमानें बैरक की ओर चल पड़ीं। गिनती से जेल की मनहूस दीवारें प्रतिध्वनित हो उठीं। कतारें बैठ गईं। रोटियाँ बँटीं। दुःखित आत्माओं ने उन्हें महाप्रसाद समझा। जिनका पेट भरा था वे संतोष की डकार भरते बैरक में घुसे। जो भूखे थे वे ढीली कदम उठाते कैदी जीवन के एक दिन को बीता समझ शून्य गगन की ओर देखते, आह भरते अपने ओटे की ओर चल पड़े।

गिनती हुई। अरगड़े की जंजीर खड़खड़ा उठी। कराहता अरगड़ा बंद हो गया। नंबरदार के "ताला, जंगला, लालटेन ठीक है साहब" की ऊँची आवाज से बैरक गूँज उठा। कैदी अपने अपने ओटे पर कंबल बिछा निद्रादेवी का आह्वान करने लगे। मैं भी अपने ओटे पर चित्त सोया बैरक में लगी काली कड़ियाँ गिन रहा ~~रहा~~ था। कैदियों के नीरस जीवन के, बैरक में लगे खपड़े, नंबर,

NB
14/8/1000

कड़ियाँ ये ही साथी थे। घर कीयाद आने पर अथवा मन उचटने पर उन्हें ही गिनकर कैदी संतोष करते थे। मैं सोचता था कि न मालूम कितने कैदियों ने इसी प्रकार कड़ियाँ गिनते अपनी जेल-यात्रा समाप्त की होगी। हृदय उमड़ने पर वे मूक समवेदना प्रकट करते। सांत्वना देते। कहते कि दिन बीतते देरी नहीं होती।

करवट बदलते ही देखा कि मेरी बगल में एक नया कैदी आया है। बैरक शांत हो गई थी। निद्रादेवी की सुखद गोद में सभी झूम रहे थे। कैदी मेरी ओर एक टक देख रहा था। मुझे उसका कुछ ध्यान नहीं था। आँखें मिलते ही बाहर का हाल जानने के लिए उत्सुक हो उठा। नए कैदी ही साधन थे जिनके द्वारा बाह्य जगत् का कुछ समाचार हमलोगों को मिल जाया करता था। कैदी युवा था; सुंदर था, गंभीर था। उसके मुँह पर किंचित मात्र भी दुःख एवं शोक की छाया न थी। उसने भोजन नहीं किया था। ६ रोटी और भुजिया उसके तसले में ज्यों की त्यों पड़ी थीं। मैं उसकी ओर आकृष्ट हो उठा। धीरे से पूछा—

"आपका नाम?"

"नारायण"

"घर?"

"राये।"

"सजा?"

"दो वर्ष।"

"जुर्म?"

"व्यभिचार।"

कैदी लज्जित हो उठा। उसके नेत्र नीचे रखे तसले की रोटियाँ गिनने लगे। मेरी भी आँखें काली कड़ियों की ओर जा लगीं। कैदी कुछ कहना चाहता था किंतु साहस न हुआ। कुछ काल पश्चात् मैंने उसकी ओर तीव्र दृष्टि से देखा। जेल के डाकुओं की, चोरों की, लड़ाकों की इज्जत होती थी किंतु लड़का-स्त्री भगानेवालों तथा व्यभिचारियों का जीवन कठिन हो जाता था। सभी उसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। उसे ताना मारते और अनायास ही उसके दुश्मन हो बैठते थे। मुझे न मालूम क्यों उसपर दया हो आई। सोचा कि कल वह बैल की तरह चक्की में जुत जायगा। उसकी यातना आरंभ हो जायगी। नंबरदार तथा वार्डर ठठोली करते, अपने कोमल डंडों से उसकी खबर लेंगे। मन में आया कि न बोलूँ किंतु आँखें आपसे आप उसकी ओर घूम गईं। मैंने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा। उसके मुख पर व्यभिचारियों की कुटिलता न थी। उसका मुख शिशु तुल्य भोलाभाला तथा सरल था। मैं मन-ही-मन कह उठा कि यह अपराधी नहीं हो सकता। मैंने पूछा—

'क्या सचमुच अपराध किया है?'

उसने आँखें नीची कर लीं।

'पुलिसवालों ने झूठे ही तो नहीं फँसा है?'

'नहीं।' उसने भूमि की ओर देखते हुए कहा।

'फिर?'

उसने कुछ उत्तर नहीं दिया। उसकी उँगलियाँ भूमि पर रेखाएँ खींचने लगीं। वह और भी जमीन की ओर झुक गया।

"बोलते क्यों नहीं ?' मैंने उसका हाथ पकड़ते हुए कहा। मेरे हाथों पर गर्म बूँदें गिर पड़ीं। उसने कंबल में मुख छिपा लिया। अप्रकट भाव अश्रु द्वारा प्रकट हो चले ! मैंने उसके मस्तक पर हाथ फेरकर सांत्वना देते हुए धीरे से कहा—'ईश्वर पर विश्वास रखो। वही सबकी रक्षा करता है। वही आधार है। उसी के आधार पर हम इस नारकीय जीवन में भी जीवित रहने की आशा लगाए बैठे हैं।"

"ईश्वर पर विश्वास ?"

"हाँ।"

"उँह।"

"वही न्यायी है। वही दीनों का रक्षक है।"

"मैं नहीं जानता।"

"क्या वह नहीं है ?"

"होगा।"

"क्यों ?"

"आपके लिए होगा। संसार के लिए होगा। मेरे लिए नहीं।"

"कैसे ?"

"उसका न्याय देखकर।"

"किस प्रकार ?"

"सुनोगे ?"

"हाँ कहो।"

उसने कहना आरंभ किया—

मैं भी मनुष्य हूँ। मैं भी तर्कशील प्राणी हूँ। किसी के लिए यह जीवन निस्सार वैराग्यमय हो सकता है; किंतु मैं इसे कुछ और ही समझता हूँ। मैं भी जानता हूँ कि यह संसार माया है; प्रपंच है; मानव प्राणी का क्रीड़ास्थल है। हम ईषणाओं की भ्रमात्मक वृत्ति में चक्कर काट रहे हैं। यह जानते हुए भी, समझते हुए भी हम प्रायः उसे भूल जाते हैं। वातावरण के चक्कर में हम नाच उठते हैं। वर्षा के जल के समान जिधर ही ढार पाते हैं लुढ़क पड़ते हैं। मैं समाज की दृष्टि में व्यभिचारी हूँ। पर-स्त्री-गामी हूँ, कामी हूँ, किंतु मैं क्या हूँ यह मैं ही जानता हूँ।

'मैं जमींदार का पुत्र हूँ। किंतु अब दरिद्र भिखारी गलियों में ठोकर खानेवाला लफंगा ही मात्र रह गया हूँ। मैं कालेज का स्नातक हूँ किंतु अब समाज से बहिष्कृत इस जेल के अपढ़ कैदी समाज का सामान्य सदस्य हूँ। आज मैं जेल का क़ैदी हूँ। न्यायालय ने मुझे अपराधी प्रमाणित किया है। संसार ने भी बिना सोचे-विचारे न्यायालय की बात पर मुझे दुतकारा है। मैं उन्हें पाषाण-हृदय होकर सहूँगा और सुखद स्वप्न की तरह भूल जाऊँगा। जब मुझे अत्यंत वेदना होगी तो मैं अपने स्मृति-सागर की कल्लोलित तरंगों में गोता लगा; समाधि लगा लूँगा।

"बाल्य काल का प्रेम अनजाने उत्पन्न हो आपसे-आप फलता फूलता जाता है। उसे सींचने की आवश्यकता नहीं होती। जब मैं अपने मटर के हरे-भरे खेतों में छीमी तोड़ने जाता तो मेरे सजातीय

पड़ोसी की कन्या भी आती, हम लोग एक साथ खेलते कूदते, ऊख तोड़ते, छीमी भूनी जाती और कहानी-किस्से छिड़ पड़ते। आम के दिनों में बारियों में कोपरों के लिये लूमें दौड़ते न मालूम कितने दिन काट दिए होंगे, उस समय हम लोगों के हृदय में किसी प्रकार की आकांक्षा न थी, धीरे-धीरे बचपन का प्रेम प्रौढ़ हो गया। हमलोगों का जीवन आदर्श जीवन हुआ किंतु उसके पिता से पैतृक शत्रुता थी। मान अपमान का ध्यान रख प्रार्थना की। प्रार्थना अस्वीकृत होने के साथ ही काफी फटकार मिली। हम क्या करते मनुष्य होते भी समाज के बंधन में जकड़े थे। उसी के दास थे। दोनों के हृदय में आग जल रही थी किंतु उसकी चिनगारियाँ बाहर न निकल पाती थीं।

"उसके घर दूर का एक रिश्तेदार आया। वह धनी था। सुंदर था। वाक़पटु था। गठीला बदन था। उसके माता-पिता ने उसी से व्याह ठीक किया। उसने भी उसकी सुंदरता पर मोहित हो वहीं डेरा डाल दिया। वह बेचारी संसार से अनभिज्ञ थी छल-कपट धोखा-धड़ी उसे न आता था। वह उस चाटुकार युवक के फंदे में फँस गई। उसे गर्भ रह गया। युवक भी सब्जबाग दिखाता चल दिया। घर पहुँचते ही उसने पत्रद्वारा सूचना दे दी कि वह व्याह नहीं करेगा। गर्भ बढ़ता जाता था। चारों ओर अंधकार था कलंक छिपाना कठिन हो गया।

"पुरानी शत्रुता निकालने का यह अच्छा सुयोग था। गाँव के कुछ चालाक मुकदमेबाजों की पंचायत जुटी। गुट बँध गई। मेरे

सर अपराध मढ़ने का निश्चय हो गया। मुकदमा पेश हुआ। मेरी तलबी हुई। गवाह आदि पहले ही से ठोंक-पीटकर ठीक कर लिए गए थे। केवल अदालत का स्वांग रचना बाकी था। उसने भी मुझे ही दोषी बताया। जज ने अपराध पढ़ सुनाया। मैं सन्न हो गया। मैंने मुस्कराते हुए उसकी ओर देखा। वह धँसी जा रही थी। मेरी दृष्टि वह बचा रही थी। मैं उसकी ओर पुनः एक बार देखकर मुस्कराया। उसके ललाट पर स्वेद-बिंदु उमड़ आए थे। बगल में खड़े उसके पिता आदि अपनी विजय का स्वप्न देख फूले न समाते थे। मुझसे प्रश्न हुआ—

"तुम इसे जानते हो?"

"हाँ।" मैंने मुस्कराते गंभीरतापूर्वक उत्तर दिया।

"तुम लोगों में प्रेम है?"

"हाँ।" मैंने उसकी ओर देखते मुस्कराकर उत्तर दिया।

"तो तुम अपराध स्वीकार करते हो?"

"मैं हिचका। मैं अस्वीकार कर सकता था। मेरी ओर के वकील उपस्थित थे। पिताजी हजारों खर्चने की बाजी लगा बैठे थे। उन्हें स्वप्न में भी विश्वास नहीं था कि मैंने ऐसा गुरुतम अपराध किया होगा। मैं बच सकता था किंतु मैं जिससे प्रेम करता था, जो मेरी दृष्टि में देवी तुल्य पवित्र थी, व्यभिचारिणी समझी जाती, उसे लोग झूठी, धोखेबाज, कुपथगामिनी कहकर कलंक लगाते। उसका सारा जीवन कलुषित हो जाता। वह कहीं मुख दिखाने योग्य भी न रहती। मैंने धीरे से कहा—

"हाँ"।

"कमरे में सन्नाटा छा गया। पिताजी बेहोश होते-होते बचे। वकील की कलम छूट गई। जज मुँह बनाते पीछे की ओर ओठग-कर ऊपर देखने लगे। शत्रु-दल हर्षित हो उठा। वह झुक गई। उसकी कमर टूटी जाती थी। अपने भाव छिपाने के लिए वह पीछे आड़ में हो गई। मुझसे पुनः प्रश्न हुआ—

"जबरदस्ती"।

हमारे वकीलों ने कुछ कहना चाहा किंतु मैंने रोक दिया। पूछने-पर कह दिया कि मुझे सफाई आदि देना या और कुछ कहना नहीं है। अदालत उठ गई। गाँव-घर सभी स्थानों पर सन्नाटा छा गया था। घरवाले दुखी थे। पिताजी मुँह छिपाते फिरते थे। माँ केवल गंभीर स्वास खींचकर ही रो रही। किंतु मैं प्रसन्न था। मेरा हृदय हर्ष से फूला न समाता था। मैं क्यों प्रसन्न था, मैं स्वयं नहीं जानता था।

आज फैसला सुनाया गया। मैं पहले ही से अदालत में उप-स्थित था। वह भी अपने पिता के संग आई। चारो ओर कमरे में सन्नाटा था। सबकी दृष्टि जज पर थी। जज साहब उठे। वह झपटकर जज के सामने खड़ी हो गई। सब लोग स्तंभित हो गए मैं भी आश्चर्यपूर्वक उसकी ओर देखने लगा। उसने सब रहस्य खोल दिया। रो पड़ी। मेरे पैरों पर गिर पड़ी। मैंने उसे उठा लिया जज ने सशंक दृष्टि से मेरी ओर देखा। मैंने नत-मस्तक हो पुनः अपराध स्वीकार करते हुए उसकी बातों को प्रलाप बताया। फैसला

लिखा जा चुका था । मैंने अपराध स्वीकार कर लिया था । दो वर्ष की सजा सुनाई गई । वह चिल्ला उठी । हम सब विदा हुए । मैं प्रसन्न था । वह खिन्न थी; व्याकुल थी; उसका हृदय आंदोलित हो उठा । मेरे पिताजी गर्वित थे । उसके पिता जीतकर भी हार गए थे । समाज की दृष्टि में मैं अपराधी हूँ, जेल का जघन्य कैदी हूँ किंतु मेरी आत्मा प्रसन्न है, शांत है । यदि जीवन खेल है तो मैंने भी यह छोटा-सा खेल खेला है ।

मैं नीरव हो गया । मेरे मुख से कुछ बोली न निकली । मैं गहरी साँस खींचता अपने ओटे पर कम्मल ओढ़ चुपचाप पड़ रहा । नंबरदार चिल्ला उठा ।

"ताला-जंगला-लालटेन ठीक है साहब ।"

समाप्त

क्रीड़ा

"दुर्ग घिर गया ?"

"जी हाँ।"

"कितने सैनिक बचे ?"

"दो सौ।"

"हूँ। सामान ?"

"पंद्रह दिन के लिये।"

"गोला बारूद ?"

"काफी।"

"कितने दिन टिक सकते हो ?"

"चार दिन।"

"बस ?"

"जी हाँ।"

प्रश्नकर्ता गवाक्ष की ओर बढ़ गया। उसकी मुद्रा अत्यंत गंभीर हो गई थी। पीछे कमर पर दोनों हाथ जुटे थे, मस्तक आगे की ओर झुक गया था। उसकी दृष्टि सामने की पर्वतमाला में घूमकर

दुर्ग के सुदृढ़ प्राचीर पर स्थिर हो गई थी। प्राचीर की ओर गंभीरता-पूर्वक देखते हुए उससे पूछा, "उदयपुर कोई जा सकता है?"

"जी नहीं।"

वृद्ध के मस्तक में सिकुड़न पड़ गई। वह घूमकर खड़ा हो गया।

"मार्ग पर शत्रुओं का अधिकार है।"

वृद्ध ने कुछ उत्तर न दिया। कुछ काल पश्चात् गंभीर निःश्वास परित्याग करते हुए कहा—

"भेरी।"

भेरी वाले ने प्रवेश किया।

"प्रांगण में सेना एकत्र करो।"

रणभेरी बज उठी। सैनिक दौड़ पड़े। वे बंदूकों पर हाथ रखे यथाक्रम शांत खड़े हो गए। सबकी उत्सुक दृष्टि द्वार की ओर लगी थी। धीरे-धीरे वृद्ध सरदार द्वार से बाहर निकला। सब सावधान हो गए। सामयिक अभिवादन द्वारा वृद्ध दुर्गाधिपति का स्वागत हुआ। पूर्ण नीरवता थी। मृत्यु के पहले की सी शांति थी। प्रलय के प्रथम की सी निस्तब्धता थी। वृद्ध ने बीच में खड़े होकर सैनिकों को अन्वेषण दृष्टि से देखा। सबकी दृष्टि उसकी ओर लगी थी। वृद्ध की गंभीर वज्रध्वनि नीरवता तोड़ती हुई गूंज उठी—

"वीरो!"

सैनिक सतर्क हो गए।

"आज हमें जौहर दिखाना होगा।"

सभी का मुख लाल हो उठा। सैनिकों ने अपने अस्त्रों को जोर से पकड़ लिया।

"क्या कोई मरना नहीं चाहता ?"

सबने एक दूसरे की ओर देखा।

"भला मरने के लिए कोई उत्सुक क्यों हो ?" वृद्ध ने मुस्करा-कर कहा।

"देव, इस प्रश्न का उत्तर आप ही क्यों न दें ?" एक युवक सैनिक ने अभिवादन करते हुए निवेदन किया।

"वत्स, दूँगा।" वृद्ध पुनः मुस्कराया।

"क्या कोई रानीजी को समाचार दे सकता है ?"

सभी नीरव हो गए।

"देश का भाग्य उसी पर निर्भर है। बोलो ?"

"मैं।"

"नहीं, मैं।"

"जी नहीं, मैं।"

पचासो सैनिक पंक्ति से आगे निकल आए।

"किंतु चार दिन में लौटना होगा।"

पुनः सबने एक दूसरे का मुँह देखा।

"यदि न लौटोगे तो यह मेवाड़ का द्वार खुल जायगा। तुम्हारा स्वागत करने के लिए दुर्ग का खुला फाटक एवं लाल झंडे के स्थान पर शत्रु की पताका फहराती मिलेगी।"

सभी चुप थे।

"कोई बीड़ा उठाता है ?"

वृद्ध ने चारो ओर देखते हुए पूछा।

सबके मस्तक बंदूक की नलियों पर झुक गए।

"कोई बीड़ा उठाता है ?"

वृद्ध ने पुनः गंभीरतापूर्वक पूछा।

सैनिकों की छिपी निगाहें एक दूसरे को देखने लगीं।

"कोई बीड़ा उठाता है ?"

वृद्ध ने हताश होकर अंतिम बार पूछा।

सबने देखा एक युवक सामंत धीरे-धीरे वृद्ध की ओर बढ़ रहा है। उसे देखते ही वृद्ध ने हर्षित होकर कहा—

"नारायण ?"

"हाँ देव।"

"तुम बीड़ा उठाते हो ?"

"जी हाँ।"

"अकेले ?"

"हाँ देव।"

(२)

"कौन ?"

आगंतुक अश्वारोही ने सामरिक अभिवादन किया।

"नारायण।"

सैनिक ने पुनः अभिवादन किया।

"तुम घायल हो ?"

"हाँ महाराज।"

"कैसे"?

"मार्ग में।"

रानीजी ने ही उसके मुँह की ओर देखा।

"दुर्ग घिर गया।"

"हैं? यह कब?" रानीजी ने आसन त्यागकर सैनिक की ओर बढ़ते हुए पूछा।

"कल रात।"

कुछ काल शांत रहकर नारायण ने पुनः कहा।

"शत्रु-दल अग्रसर होना चाहता है। यदि कल तक .....।"

"समझ गया। द्वारपाल।"

द्वारपाल ने प्रवेश कर अभिवादन किया।

"सामंतों को बुलाओ। नारायण घर जाओ, फिर बुलाऊँगा।"

"महाराज मुझे कल लौटना है।"

राना जी कुछ उत्तर न दे टहलने लगे। नारायण अभिवादन कर लौट पड़ा।

घर पहुँचते ही नारायण ने किवाड़ की आड़ से पुकारा।

"माँ?"

"कौन?"

"पहचानो?"

हँसते हँसते नारायण ने माता के चरणों का स्पर्श कर कृपाण खूँटी पर टाँगते हुए कहा "माँ फिर युद्ध होगा।"

“कहाँ बेटा ?”

“यह मैं क्या जानूँ माँ ? शत्रु ने आक्रमण किया।”

“वे क्या चाहते हैं बेटा ?”

“सुनते हैं कि हमारा देश हरा-भरा है। धन भी अधिक है। इसलिए उनकी आँख हम पर ज्यादा है।”

“इससे क्या और भी तो धनी हैं बेटा ?”

“नहीं माँ, एक बात और है, वे कहते हैं कि मेवाड़ के स्वाधीन होने से और जातियों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। वे भी स्वतंत्र होने का प्रयत्न करती हैं।”

“तो क्या स्वाधीन होना भी अपराध है ?”

यह तो मैं नहीं जानता था किंतु स्वाधीनता का मूल्य बहुत अधिक है। देखो न सर्वदा युद्ध की ही बात हुआ करती है।

“बेटा, मैंने सुना था कि संधि की बात चली है।

‘माँ, उनका कहना है कि रानाजी बादशाह को केवल अपना बादशाह मान लें तो मेवाड़ को और देश भी मिल जायँगे तथा बादशाह सलामत उनके साथी हो उनके शत्रुओं से लड़ेंगे भी।’

‘तो रानाजी ने क्या उत्तर दिया ?’

‘वही उत्तर माँ, अपना गौरव भी तो कोई चीज है, हम केवल पेट ही भरने के लिए तो नहीं उत्पन्न हुए हैं ?’

इसी समय तीन वर्ष का बच्चा अपने पिता की ओर बाबूजी बाबूजी कहते हुए दौड़ पड़ा, नारायण ने उसे गोद में उठा चूम लिया अपने पुत्र के वात्सल्य प्रेम को देख माँ मन-ही-मन पुलकित हो

उठी। उसके झुर्री पड़े शुष्क गालों पर दो बूँद आँसू लुढ़क पड़े। माँ उन्हें अंचल से पोछते हुए भीतर भोजन का प्रबंध करने चल पड़ी।

नारायण श्रेष्ठ धनी सामंत था। उसके पूर्वज अपनी निष्कपट राजभक्ति एवं वीरता द्वारा मेवाड़ की बहुत सेवा कर चुके थे। वह यद्यपि उमर में छोटा था किंतु अपनी कार्य-पटुता एवं वीरता द्वारा अच्छी ख्याति पैदा कर चुका था। यही कारण था कि वह सीमा पर भेजा गया था। भोजनादि के पश्चात् वह अपनी स्त्री से बात कर ही रहा था कि बाहर से आवाज आई।

'सामंतजी।'

'क्या है?'

'रानाजी ने स्मरण किया है।'

नारायण उठ खड़ा हुआ। कपड़ा पहना, कृपाण उठाया।

माँ ने पूछा।

'कहाँ बेटा?'

'वहीं जहाँ मनुष्य जाते हैं माँ।' नारायण ने मुस्करा कर कहा।

'अभी तो तुम आए हो?'

'इससे क्या? शरीर तो मेवाड़ का है। जब चाहे बुला ले।'

'आज घर न लौटोगे?'

कह नहीं सकता माँ।'

शिशु अपनी माँ की गोद से कह उठा—

"बाबूजी।"

नारायण लौट पड़ा। बच्चे की ठुड्ढी हिलाते हुए बोला—

"देखो, मेवाड़ का अन्न और गौरव भूल मत जाना ?"

कहते कहते नारायण की आँखें अश्रुकण पूर्ण हो गईं। झपट-कर वह घोड़े पर जा बैठा।

(३)

रानाजी अपने सामंतों एवं मंत्रियों से घिरे बैठे थे। सभी चिंतित थे। नवीन परिस्थिति का कैसे सामना किया जाय यही समस्या उप-स्थित थी। इसी समय नारायण ने प्रवेश कर सबको यथारीति अभिवादन किया। रानाजी ने कहा—

"नारायण।"

"हाँ महाराज।"

"दो दिन में पहुँचना कठिन है।"

नारायण ने कुछ उत्तर न दिया। उसकी मर्मभेदी दृष्टि सामंतों की ओर घूम गई। सभी नतमस्तक थे। अपनी बेबसी पर मन-ही-मन झुँझला रहे थे, रानाजी ने धीरे से कहा—

"तब ?"

'महाराज आज्ञा दीजिए।"

"नहीं नारायण तुम थके हो, दूसरे चले जायँगे।" रानाजी ने सामंतों की ओर देखा, तुरंत कितने ही लोग खड़े हो गए।

नारायण ने मुस्कराकर कहा—

"महाराज ! मैंने बीड़ा उठाया है।"

सब नीरव हो गए। नारायण ने फिर कहा—

"यदि मैं निश्चित समय पर न पहुँच सका तो क्या परिणाम होगा आप जानते ही हैं।"

किसी को उत्तर देने का साहस न हुआ। नारायण का मुँह लाल हो गया था। उसके चेहरे पर दिव्य कांति थी। उसने अपने कृपाण की मूठ पर हाथ रखते हुए कहा—

"देव, यदि मेरे उत्सर्ग से दो सौ सैनिकों की प्राण-रक्षा हो सके, मेवाड़ अपने गौरव को कायम रख सके तो क्या यही कुछ कम है?

राना उठ खड़े हुए। उन्होंने नारायण के कंधे पर प्रेमपूर्वक हाथ रखते हुए अस्फुट स्वर में कहा—

"नारायण।"

"महाराज, यदि यह तुच्छ नश्वर शरीर मेवाड़ के किसी काम आ सका तो मेरा वंश अपने को भाग्यशाली समझेगा।"

"नारायण! मेवाड़ तुम्हें पाकर गर्वित है। मैं चलता हूँ, संभव है निश्चित समय पर पहुँच जाऊँ। नहीं तो दुर्गाधिपति से कहना कम-से-कम एक दिन तक दुर्ग की, मेवाड़ के प्रवेश-द्वार की और रक्षा करेंगे।"

"तो महाराज आशीर्वाद दीजिए।"

"नारायण! मैं इस हतभाग्य युद्धजर्जर मेवाड़, उन मुट्ठी भर स्वातंत्र्य-प्रिय व्यक्तियों, उन पर्वत-मालाओं में स्वच्छंद विचरते स्वतंत्रता से पले पशु-पक्षियों, वीरप्रसविनी माताओं, आर्य ललनाओं एवं उन नवजात शिशुओं की ओर से आशीर्वाद देता हूँ जो

अपनी स्वाधीनता का मूल्य त्याग एवं उत्कर्ष के आधार पर आंकेंगे।"

नारायण रानाजी का चरण स्पर्श कर अन्य सामंतों को अभिवादन कर चल पड़ा। सभी लोग निस्तब्ध खड़े थे। केवल नारायण की दूर होती पद-ध्वनि सुनाई पड़ती थी। जब तक वह दृष्टिगोचर था सब एकटक उसकी ओर देखते रहे। अदृश्य होते ही रानाजी नत-मस्तक हो प्रासाद की ओर तथा सामंतगण बिना एक दूसरे से बोले-चाले विजय-यात्रा के हेतु धीरे-धीरे चल पड़े।

तोरण-द्वार पर नागरिकों की भीड़ लगी थी। नारायण को देखते ही लोगों ने मार्ग दे दिया। आगे बढ़ते ही बगल में अपनी माता को खड़ी देखा। नरायण ने घोड़े से कूदकर माता की पद-रज ली। माँ के पीछे शिशु-सहित उसकी स्त्री खड़ी थी। उनके नेत्रों में अश्रु न था। वे सूख गए थे। मुँह का रंग उड़ गया था। धीरे-धीरे आगे बढ़कर उसने कुमकुम का टीका मस्तक पर लगा दिया। नारायण नत-मस्तक हो गंभीर हो गया। अपने बच्चे का अंतिम चुंबन किया। नारियाँ विजय-गीत गाने लगीं। नारायण ठहर न सका। उछलकर घोड़े पर बैठ उसे एँड़ लगा दी। देखते देखते प्रशस्त राजपथ पर घोड़े की टाप विलीन हो गई।

(४)

अंधेरी रात थी। शत्रु छावनी डाले पड़े थे। पहरे की चौकियों पर आग जल रही थी। सतर्क प्रहरी बंदूक भरे पहरा दे रहे थे। नारायण शत्रुओं की आँख बचा पत्थरों की ओट देता चला जा-

रहा था। कुछ मार्ग शेष था कि एकाएक पत्थर का एक ढोंका लुढ़क पड़ा। प्रहरी चौंका! मशालें जल गईं। नारायण दौड़ पड़ा। अब क्या था; बाढ़ें दगने लगीं। बंदूकें चिल्ला उठीं। नारायण लक्ष्य था। समस्त शत्रु-दल वेधक था। नारायण का शरीर छिदता जाता था किंतु उसकी चाल में कमी न थी। उसके शरीर से रक्त की धारा बह रही थी। दुर्गवाले इस असमय की लड़ाई से चौंक उठे थे। फाटक पर पहुँचते ही खिड़की खुली। नारायण खून से लथपथ हो गिर पड़ा।

(५)

अरुणोदय था। सूर्य की रक्त-किरणें फहराती लाल पताका के छोरों पर अठखेलियाँ करती हँस रही थीं। दूसरी ओर नारायण भी अपने जीवन की घड़ियाँ गिन रहा था। सभी सामंत उसकी चारपाई के चारो ओर बैठे थे। घावों पर पट्टियाँ बधी थीं। शिथिलता प्रतिक्षण बढ़ती जाती थी। नारायण ने धीरे से बाहर ले चलने का संकेत किया। सामंतों ने उसकी चारपाई उसी प्रांगण में रख दी जहाँ उसने बीड़ा उठाया था। दुर्ग के सभी सैनिक चारो ओर बैठे थे। नारायण की आँखें खुलतीं, पताका फहराती देखकर वह मुस्कराता, फिर वह आँखें बंद कर लेता था। नारायण ने धीरे से रुकते-रुकते कहा—

"देव क्या यह पताका इसी तरह फहराती रहेगी?"

सभी सैनिक नत-मस्तक हो गए। वृद्ध ने उसके मस्तक पर हाथ फेरते हुए कहा—'वत्स, चिंता मत करो। एकलिंगजी सब

कल्याण करेंगे।" नारायण ने संतोष की साँस ली। इसी समय कुछ दूर पर तुरही बज उठी। सब चकित हुए। नारायण का मुँह खिल उठा। वह अपने को सम्हाल न सका। उठ खड़ा हुआ। चिल्ला उठा—"हरहर महादेव"।

साथ ही दो सौ कंठस्वर की गगनभेदी ध्वनि गूंज उठी—"हरहर महादेव।"

प्रतिध्वनि के विलीन होते नारायण का निर्जीव शरीर भूमि पर गिर पड़ा।

समाप्त

मुद्रक—
बजरंगबली 'विशारद'
श्रीसीताराम प्रेस, जालिपादेवी, काशी।